PAPER-1(A)

बाल मनोविज्ञान
[CHILD PSYCHOLOGY]

प्रश्न 1. बाल मनोविज्ञान से आप क्या समझते हैं? बाल मनोविज्ञान का अर्थ तथा परिभाषा दीजिए। बाल मनोविज्ञान एवं बाल विकास में क्या अन्तर है?
What do you think of Child Psychology? Give the Meaning and Definition of Child Psychology. What is the difference between Child Psychology and Child Development?

उत्तर—

बाल मनोविज्ञान
(Child Psychology)

मनोविज्ञान एक व्यावहारिक विज्ञान है। इस व्यावहारिक विज्ञान की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। **डम्बिल** ने मनोविज्ञान को प्राणियों के व्यवहार का विधायक विज्ञान कहा है। **वुडवर्थ** ने वातावरण के सम्बन्ध में व्यक्ति की क्रियाओं से सम्बन्धित विज्ञान को मनोविज्ञान की संज्ञा दी है। **जेम्स ड्रेवर** ने मनोविज्ञान की परिभाषा प्राणियों के मानसिक तथा शारीरिक व्यवहार की व्याख्या करने वाले विज्ञान के रूप में दी है और इसका सम्बन्ध भौतिक अनुबन्ध से है। मनोविज्ञान की नीचे दी गई परिभाषाएँ जीवित प्राणी के व्यवहार का अध्ययन, व्याख्या, उन पर पड़ने वाले प्रभाव आदि सभी का अध्ययन करती हैं। मनोविज्ञान, चूँकि मानव व्यवहार का अध्ययन करता है तो वह उन सभी तथ्यों, घटकों का भी अध्ययन करता है जो मानव व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

जीवन के जिन-जिन क्षेत्रों में मनोविज्ञान के सिद्धान्त तथा व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है, वे सब उसी की शाखाएँ बन जाती हैं। बालकों का अध्ययन जब मनोविज्ञान के आधार पर किया जाता है, तो वह 'बाल मनोविज्ञान' कहलाने लगता है।

बाल मनोविज्ञान के विषय में कुछ प्रश्न निम्न प्रकार उठाये जाते हैं—

(1) क्या बाल मनोविज्ञान का अध्ययन व्यक्ति में इस क्षमता का विकास करता है कि वह विकास एवं परिवर्तन की सामान्य दिशा को पहचान सके?
(2) क्या यह विज्ञान बालकों में वांछित व्यावहारिक परिवर्तन की दिशाओं को स्पष्ट करता है?
(3) क्या बाल मनोविज्ञान का अध्ययन बालक को सफल मार्गदर्शन प्रदान करता है?

सामान्यतः यह माना जाता है कि मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति से बालक की आवश्यकतायें सन्तुष्ट की जा सकती हैं, किन्तु यह भी उतनी ही सही है कि स्नेह, प्रेम, दया, ममता आदि मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से उसके विकास तथा अभिवृद्धि में दोष आ जाता है।

(1) क्रो एण्ड क्रो—*"बाल मनोविज्ञान एक वैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें बालक के जन्म-पूर्व काल से लेकर किशोरावस्था तक का अध्ययन किया जाता है।"*

(2) थॉम्पसन—*"बाल मनोविज्ञान सभी को एक नई दिशा में संकेत करता है। यदि उसे उचित रूप में समझा जा सके तथा उसका उचित समय पर उचित ढंग से विकास हो सके तो हर बच्चा एक सफल व्यक्ति बन सकता है।"*

बाल मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक शाखा के रूप में विकसित हुआ है। इसके अन्तर्गत बालकों के व्यवहार, स्थितियों समस्याओं तथा उन सभी कारणों का अध्ययन किया जाता है, जिसका प्रभाव बालक के व्यवहार एवं विकास पर पड़ता है। आज के युग में अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक कारक मनुष्य तथा उसके परिवेश को प्रभावित कर रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप बालक (जो भावी समय की आधारशिला होता है) प्रभावित होता है।

Scanned with OKEN Scanner

बाल विकास और बाल मनोविज्ञान में अन्तर
(Difference between Child Development & Child Psychology)

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक अधिकांश मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन बाल-व्यवहार के कुछ विशिष्ट क्षेत्रों से सम्बन्धित थे; जैसे—संवेग, रुचि, खेल, भाषा, बालकों की विभिन्न क्रियाएँ, नवजात शिशुओं की शारीरिक तथा मानसिक विशेषताएँ आदि। इन क्षेत्रों से सम्बन्धित अधिकांश अध्ययन नवजात शिशुओं या स्कूल के छोटे-छोटे बच्चों तक सीमित थे। इस प्रकार के अध्ययन जिस शाखा द्वारा किये जाते थे, उसे 'बाल मनोविज्ञान' (Child Psychology) कहा जाता था। धीरे-धीरे बाल-मनोविज्ञान की लोकप्रियता बढ़ने लगी जिसके परिणामस्वरूप इस दिशा में मनोवैज्ञानिकों की रुचि बढ़ी और इस दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण अध्ययन होने लगे। इन अध्ययनों के परिणामस्वरूप मनोवैज्ञानिकों ने अनुभव किया कि केवल भिन्न-भिन्न आयु-स्तरों पर बाल-व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों में अध्ययन करना ही पर्याप्त और उपयुक्त नहीं है। इन मनोवैज्ञानिकों ने यह भी अनुभव किया कि इस प्रकार के अध्ययनों से पता नहीं चलता है कि बालकों की आयु में वृद्धि के साथ-साथ उनकी व्यवहार-विशेषताओं में क्या-क्या तथा किन कारणों से परिवर्तन होते हैं। इस प्रकार के ज्ञान के अभाव की पूर्ति हेतु बाल मनोविज्ञान में दो अध्ययन प्रणालियों (समकालीन और दीर्घकालीन) का प्रचलन प्रारम्भ हुआ और 'बाल मनोविज्ञान' शब्द के स्थान पर 'बाल विकास' शब्द का उपयोग किया जाने लगा।

हरलॉक (1978) ने बाल मनोविज्ञान और बाल विकास के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि *"The name Child Psychology was changed to Child Development to emphasize that the focus was now on the pattern of the child development rather than certain aspects of development."* मनोवैज्ञानिकों ने बाल मनोविज्ञान को बाल विकास उस समय कहना प्रारम्भ किया जब बाल मनोविज्ञान का क्षेत्र बाल्यावस्था से युवावस्था तक हो गया। यहाँ युवावस्था के व्यक्ति का अभिप्राय उस व्यक्ति से है, जो यद्यपि सेक्स की दृष्टि से परिपक्व होता है, परन्तु उसे प्रौढ़ावस्था से सम्बन्धित उत्तरदायित्वों, अधिकारों और सुविधाओं को रखने की दृष्टि से परिपक्व नहीं समझा जाता है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि बाल मनोविज्ञान की अपेक्षा बाल विकास बहुत अधिक विस्तृत और व्यापक है। 'Child Psychology' के स्थान पर 'Child Development' शब्द का प्रयोग मुख्यतः इस कारण होने लगा कि बाल मनोविज्ञान में अधिक अनुसंधानों की आवश्यकता थी।

प्रश्न 2. बाल मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिये।
Put a light on the Historical Background of Child Psychology.

उत्तर—

बाल मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(Historical Background of Child Psychology)

सन् 1930 तक बाल मनोविज्ञान की विषय-सामग्री सीमित थी। इस अवधि की अधिकांश समस्याएँ यह थीं कि भिन्न-भिन्न आयु-स्तरों पर शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और व्यवहार विशेषताओं में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं अथवा बालकों में विभिन्न व्यवहारों के विकास की कौन-कौन सी प्रमुख अवस्थाएँ हैं, परन्तु पिछले लगभग 40 वर्षों में बाल मनोविज्ञान सम्बन्धी अध्ययनों में एक नया ट्रेण्ड चला है; वह यह कि मानव-विकास के विभिन्न क्षेत्रों में अन्तर्निहित प्रक्रियाओं का अध्ययन करना। **मूसेन** (P. H. Mussen 1974) ने बाल मनोविज्ञान के वर्तमान अध्ययनों के ट्रेण्ड को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि *"Researches in this field have become increasingly concerned with explanation with the processes and mechanisms underlying human development."* उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आधुनिक बाल विकास सम्बन्धी अध्ययन वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ होते जा रहे हैं।

बाल मनोविज्ञान का वर्तमान रूप अनेक मनोवैज्ञानिकों एवं शोधकर्त्ताओं का फल है। इसके विकास में अनेक शोधकर्त्ताओं का योगदान रहा है—Dennis, 1949; Murphy & Newcomb, 1937; Buhler, 1937; Cattell, 1950; Thompson, 1952 आदि। गर्भकालीन शिशु के शारीरिक विकास सम्बन्धी अध्ययनों में निम्न शोधकर्त्ताओं का योगदान रहा है—Bolk, 1926; Hartman, 1930; Willier, 1939; Hooker, 1944; Windle, 1950 आदि। गर्भकालीन शिशु के मानसिक विकास सम्बन्धी अध्ययनों में निम्न शोधकर्त्ताओं का प्रमुख योगदान रहा है—Kappers, 1917; Herrick, 1924; Goldstein 1939; Devis & Patter, 1948; Wells & Fralick, 1951 आदि।

नवजात शिशु (Neonate) की विभिन्न शारीरिक और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं सम्बन्धी अध्ययनों में जिन मनोवैज्ञानिकों का योगदान रहा है, उनके नाम निम्न प्रकार हैं—Dennis, S. W. 1932, 1935, 1936, 1940; Halverson H. M., 1938, 1940, 1941, 1944, 1946; Hurlock, E. B., 1933; Irwin, O. C., 1931, 1932, 1936, 1941, 1945, 1947; McGraw, M. B., 1932, 1935, 1939, 1941, 1943; Minkowski, M., 1928, 1947; Peiper A., 1924, 1926, 1930, 1935, 1938, 1942, 1949; Pratt,

Scanned with OKEN Scanner

K.C., 1930, 1933, 1934, 1936; Smith, J. R., 1938, 1939; Sontag 1935, 1936; Stirniman, 1933, 1937, 1940, 1944; Wagner, 1937, 1938, 1939 आदि।

बालकों की शारीरिक वृद्धि के क्षेत्र में Gesell, A., 1933, 1939, 1947, 1948, 1950 तथा Halverson, 1931 के अध्ययन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। स्मृति के क्षेत्र में McGeoch, 1937; Martin, 1940; Hurlock, 1931, 1932 तथा Gates (1939) आदि के अध्ययन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। भाषा-विकास और सामाजिक विकास के क्षेत्र में जिन मनोवैज्ञानिकों के योगदान महत्वपूर्ण हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—Walter, 1932; Williams & McFarland, 1937; Hahn, 1948; McCarthy, 1947, 1949, 1952; Rostand, 1950 आदि। अधिगम और अनुबन्धन से सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययनों में Marquis, D. P., 1931; Spelt, D. K., 1948; Miller, N. E. & Dollard, J., 1941 के नाम अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। **मिलर** और डोलार्ड ने इस दिशा में अपने अध्ययनों के आधार पर 'अधिगम सिद्धान्त' (Social Learning & Imitation) का प्रतिपादन किया है। ज्ञानात्मक विकास के क्षेत्र में **पियाजे** (J. Piaget, 1952) का योगदान विशेष रूप से सराहनीय है। शैशवकाल में प्रत्यक्षीकरण के विकास पर R. L. Fantz तथा S. Nevis 1967 के अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण हैं। व्यक्तित्व से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं के अध्ययनों में जिन मनोवैज्ञानिकों का योगदान सराहनीय रहा है, उनके नाम इस प्रकार हैं—Ames, L. B., 1960; Biller, H. B., 1969; Eysenck, H. J., 1970; Eysenck, S. B. G., 1965; Gibson. R. M., 1965; Kagan, J., 1966, 1962; Pederson, D. R., 1970 आदि।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार, भारतीय मनोवैज्ञानिकों के योगदान का उल्लेख नहीं है। यहाँ आवश्यक है कि बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुए अध्ययनों में भारतीय मनोवैज्ञानिकों की भी चर्चा की जाए। भारत में बाल मनोविज्ञान सम्बन्धी अध्ययनों का प्रारम्भ लगभग सन् 1930 से हुआ। सर्वाधिक कार्य व्यक्तित्व और मापन के क्षेत्र में हुआ। नवजात तथा गर्भकालीन अवस्था के शिशुओं पर अध्ययनों का पूर्णतः अभाव है। कम आयु के बालकों पर भी केवल कुछ ही अध्ययन हैं। अधिकांश अध्ययन 10 वर्ष से अधिक आयु के प्रयोज्यों पर ही हैं। बाल मनोविज्ञान के संवेग के क्षेत्र में जिन प्रमुख विद्वानों का योगदान है, उनके नाम इस प्रकार हैं—Nagarthana B., 1939; Ghose, K. D., 1941; Sanmugam, T. E., 1935; Verma, R., 1957; Hafeez, 1958; Murthy, H. N., 1966; Sharma, V. K., 1968 आदि। वहीं न्यूरोटिक बच्चों पर **कालरा** (M. Kalra, 1947) का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

बालकों की भाषा और शब्द-भण्डार के क्षेत्र में भी कुछ अध्ययन (Pal, G., 1926, M. M. Sinha, 1968; M. Rani, 1968) हुए हैं। वाचिक अधिगम के क्षेत्र में भी कुछ मनोवैज्ञानिकों (Chauhan, N. S., 1971; Sharma, K. N., 1971; Srivastava D.N., 1971, 1972, 1973, 1979) के अध्ययन हैं। अधिगम स्थानान्तरण पर **राममूर्ति** (1963), **परमेश्वरन** (1963), सृजनात्मकता पर **चौहान** तथा **शर्मा** (1975, 1978) आदि के अध्ययन हैं। बालकों के व्यक्तित्व से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन अनेक मनोवैज्ञानिकों (H. K. Mishra, 1962; Paramesh, C. R., 1964; Maitra, A. K., 1964; Dutt, N. K., 1968; Natraj, P., 1968; Patel, A. S., 1970; Srivastava, D. N., 1975, 1977, 1985, 1988, 1993) ने किया है।

देव (Deo, P.), **अग्रवाल** (K. G. Agarwal), **शर्मा** (Sagar Sharma), **श्रीवास्तव** (D. N. Srivastava) आदि ने बालकों के आत्म-प्रत्यय के मापन या निर्माण का अध्ययन किया है। बालकों की बुद्धि-मापन के लिए अनेक परीक्षणों का निर्माण भी किया गया है। इनमें से कुछ मनोवैज्ञानिकों के परीक्षण अधिक प्रचलित हैं (Tandon, 1961; M. C. Joshi, 1960; Jalota, 1947; Bhatia, 1955)। व्यक्तित्व-मापन के क्षेत्र में समायोजन मापनियों का निर्माण **एच० एम० अस्थाना** (1950), **जयप्रकाश** (1960), **प्रमोद कुमार** (1967), **सिन्हा** तथा **सिंह** (1971) और **श्रीवास्तव** (1975) आदि ने किया है।

चिन्ता मापनियों का निर्माण **सिन्हा** (1966), **सिंह** (1967), **दत्ता** (1967), **पटेल** (1967) तथा **श्रीवास्तव** (1973) तथा रुचि मापनियों का निर्माण व प्रमापीकरण **चटर्जी** (1960), **सिंह** (1969), **पांडे** (1969), **लाभसिंह** (1969) तथा **श्रीवास्तव** और **बंसल** (1975) आदि ने किया है। उपर्युक्त वर्णित मापनियों में से अधिकांश मनोवैज्ञानिक मापनियों का उपयोग किशोरों पर आसानी से किया जा सकता है। ●

प्रश्न 3. बाल मनोविज्ञान के विषय विस्तार अथवा अध्ययन क्षेत्र का संक्षेप में वर्णन कीजिये।
Briefly Describe the subjcet-matter of Child Psychology or the Study Area.

उत्तर— बाल मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की शाखा के रूप में व्यावहारिक तथा विधायक विज्ञान के रूप में विकसित हुआ है। **डम्बिल** ने मनोविज्ञान को प्राणियों के व्यवहार का विधायक विज्ञान कहा है। **ड्रेवर** ने मनोविज्ञान की परिभाषा प्राणियों के मानसिक एवं शारीरिक व्यवहार की व्याख्या करने वाले विज्ञान के रूप में दी है। इसी प्रकार बाल मनोविज्ञान के अन्तर्गत बालकों के व्यवहार, उनकी परिस्थितियों तथा पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाता है।

बाल मनोविज्ञान के विस्तार के विषय में कुछ अग्रलिखित प्रश्न उठाये जाते हैं—

Scanned with OKEN Scanner

(1) क्या बाल मनोविज्ञान का अध्ययन व्यक्ति में इस क्षमता का विकास करता है कि वह विकास तथा परिवर्तन की दिशाओं को पहचान सके?

(2) क्या यह बाल मनोविज्ञान बालकों में वांछित व्यावहारिक परिवर्तन की दिशाओं को स्पष्ट करता है?

(3) क्या बाल मनोविज्ञान का अध्ययन बालक को सफल मार्गदर्शन प्रदान करता है?

सामान्यतः यह माना जाता रहा है कि मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति से बालक की आवश्यकताएँ सन्तुष्ट की जा सकती हैं, किन्तु यह भी उतना ही सही है कि स्नेह, प्रेम, दया, ममता आदि मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से उसके विकास तथा अभिवृद्धि में दोष आ जाता है।

(1) वॉट्सन— *"बाल मनोविज्ञान सभी को एक नई दिशा में संकेत करता है। यदि उसे उचित रूप में समझा जा सके तथा उसका उचित समय पर उचित ढंग से विकास हो सके तो प्रत्येक बच्चा एक सफल व्यक्ति बन सकता है।"*

(2) क्रो एण्ड क्रो— *"बाल मनोविज्ञान एक वैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें बालक के जन्म-पूर्व काल से लेकर किशोरावस्था तक का अध्ययन किया जाता है।"*

बाल मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक शाखा के रूप में विकसित हुआ है। इसके अन्तर्गत बालकों के व्यवहार, स्थितियों, समस्याओं तथा उन सभी कारणों का अध्ययन किया जाता है, जिनका प्रभाव बालक के व्यवहार विकास पर पड़ता है। आज के युग में अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक कारक मनुष्य तथा उसके परिवेश को प्रभावित कर रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप बालक (जो भावी समय की आधारशिला होता है) प्रभावित होता है।

बाल मनोविज्ञान का विकास, विकासात्मक मनोविज्ञान से हुआ। **हरलॉक** के अनुसार— *"विकासात्मक मनोविज्ञान की वह शाखा है, जो गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त तक होने वाले मनुष्य के विकास के विभिन्न कालों में होने वाले परिवर्तनों पर विशेष ध्यान देते हुए अध्ययन करती है। प्रारम्भ में केवल स्कूल जाने से पहले की आयु के बच्चों के विकास में रुचि ली जाने लगी, इसके बाद नवजात शिशु तथा जन्म से पहले की उसकी अवस्था पर भी ध्यान दिया जाने लगा। प्रथम महायुद्ध के कुछ समय बाद किशोरावस्था के विषय में किये गये खोजपूर्ण अध्ययन उत्तरोत्तर अधिक संख्या में प्रकाशित होने लगे और दूसरे महायुद्ध के बाद प्रौढ़ावस्था तथा जीवन के उत्तरकालीन वर्षों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा।"*

विकास की प्रक्रिया में बालक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अभिभावक, शिक्षक, समाज-सुधारक, राजनेता सभी की आवश्यकताओं का केन्द्र बालक होता है। माता-पिता बालक को ईश्वर की देन मानते हैं तथा आशा करते हैं कि वह पूर्वजों की भाँति शौर्य तथा कीर्ति का प्रदर्शन करे एवं मोक्ष प्राप्ति में सहायक बने। शिक्षक चाहता है कि बालक समाज का उपयोगी अंग बने, वहीं समाज सुधारक उसमें ऐसे गुणों तथा कौशलों के दर्शन करना चाहता है, जिनसे समाज में सामाजिक कुशलता का निर्माण हो सके। इसी प्रकार राजनेता, राष्ट्र के कुशल नेतृत्व के दर्शन बालक में करता है।

अब यह समझा जाने लगा है कि बाल मनोविज्ञान के स्थान पर बाल विकास नाम को प्रचलित किया जाए। बाल मनोविज्ञान में बालक के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है, लेकिन विकास के अन्तर्गत उन सभी तथ्यों तथा घटकों का अध्ययन किया जाता है, जो बालक के व्यवहार को निश्चित स्वरूप प्रदान करते हैं। प्रारम्भ में बाल-मनोविज्ञान के अन्तर्गत शिशुओं तथा बालकों की समस्याओं के अलग-अलग अध्ययन किये गये जिन्हें पूर्णता नहीं मिली। **हरलॉक** के अनुसार— *"बाल मनोविज्ञान का नाम बाल विकास इसलिए बदला गया कि अब बालक के विकास की समस्त प्रक्रियाओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है, किसी एक पक्ष पर नहीं।"*

इस दृष्टि से बाल-मनोविज्ञान का विषय-विस्तार निम्न प्रकार है—

(1) मनोविश्लेषण—बाल मनोविज्ञान, बालकों के मन का विश्लेषण कर बालकों की भावना ग्रन्थियों का पता लगाता है तथा बालकों के सन्तुलित विकास में योगदान देता है।

(2) शिक्षा मनोविज्ञान—बाल मनोविज्ञान, शिक्षा मनोविज्ञान के साथ मिलकर बालकों का शैक्षिक विकास करता है।

(3) समाजशास्त्र तथा सांस्कृतिक मानव विज्ञान—बाल मनोविज्ञान का अध्ययन समाजशास्त्र तथा सांस्कृतिक मानव विज्ञान के अध्ययनों में सहायक होता है। बाल मनोविज्ञान ने यह बताया है कि बालक की आवश्यकताओं का स्रोत उसका परिवेश होता है।

(4) प्रयोगात्मक मनोविज्ञान—प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के माध्यम से बाल-व्यवहार का अध्ययन कर विभिन्न परिणाम ज्ञात किये जाते हैं।

(5) चिकित्सा—बाल मनोविज्ञान चिकित्सा के क्षेत्र में भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। चिकित्सा विज्ञान भी बालक को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने लगा है।

Scanned with OKEN Scanner

(6) मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान—बाल मनोविज्ञान ने मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी योगदान दिया है। बाल मनोविज्ञान, बालकों के स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए विभिन्न उपाय सुझाता है।

(7) बाल-कल्याण—बाल मनोविज्ञान ने बाल मनोविज्ञानशाला, निर्देशन केन्द्र तथा कल्याणकारी योजनाओं की दिशा में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

प्रश्न 4. बाल मनोविज्ञान की अध्ययन विधियाँ कौन-कौन सी हैं? वर्णन कीजिये।
What are the Study Methods of Child Psychology? Describe.

उत्तर—

बाल मनोविज्ञान की अध्ययन विधियाँ
(Study Methods of Child Psychology)

बाल मनोविज्ञान का अध्ययन करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने कई विधियों का विकास किया है। इन विधियों से जो परिणाम प्राप्त होते हैं, उन्हें विश्वसनीय तथा वैध कहा जा सकता है। बाल मनोविज्ञान की अध्ययन विधियाँ निम्न प्रकार हैं—

(1) नियन्त्रित निरीक्षण विधि—नियन्त्रित निरीक्षण विधि बालक के निजी व्यवहार का अंकन करने में सहायक होती है। इसमें निरीक्षणकर्त्ता चैकलिस्ट या सिम्पटन शीट के द्वारा बालक के व्यवहार का अंकन करता है। इस विधि की अनेक प्रविधियों में से प्रमुख इस प्रकार हैं—

(i) **सामुदायिक सर्वेक्षण**—इस विधि द्वारा किसी समुदाय में रहने वाले बालकों का अध्ययन किया जाता है। इससे किसी विशेष समुदाय के बालकों में विशेष व्यवहार क्यों उत्पन्न होता है, यह अन्य समुदायों के बालकों के व्यवहार से क्यों भिन्न होता है, की जानकारी मिलती है।

(ii) **चैक-लिस्ट**—यह बालकों के विभिन्न प्रकार के विकास तथा व्यवहारों की एक सूची होती है। इस सूची में दिये गये पदों के अनुसार जाँच करके ही व्यवहार तथा विकास का निरीक्षण किया जाता है।

(iii) **परिस्थिति विश्लेषण**—विभिन्न परिस्थितियों में घटने वाले बालक के व्यवहार का अध्ययन इस विधि द्वारा किया जाता है। माता-पिता, शिक्षक, साथी, समुदाय आदि सभी पक्षों के साथ बालक के व्यवहार में क्यों भिन्नता पाई जाती है, इस बात की जानकारी उन परिस्थितियों का विश्लेषण करने से होती है, जिनमें निर्दिष्ट व्यवहार किया जाता है।

(iv) **समय निर्देशन**—इस विधि द्वारा किसी निर्धारित समय में बालक के विकास तथा व्यवहार का निरीक्षण किया जाता है। एक वर्ष में अनेक बालकों के शारीरिक विकास में भिन्नता तथा उसके कारकों की जानकारी इस विधि से हो जाती है।

उपर्युक्त चारों प्रविधियों की सीमाएँ इस प्रकार हैं—

(a) इन विधियों द्वारा एक-साथ बहुत से बालकों का अध्ययन नहीं किया जा सकता।

(b) इनका प्रयोग प्रशिक्षित व्यक्ति ही कर सकते हैं।

(c) इन विधियों का प्रयोग करते समय वातावरण को नियन्त्रित करने में कठिनाई आती है।

(2) प्रश्नावली विधि—विभिन्न प्रश्नों के उत्तर बालकों से प्राप्त किये जाते हैं। उनके उत्तरों के अध्ययन पर बालक के विकास का अध्ययन किया जाता है। **जी० स्टेलने हॉल** ने सर्वप्रथम 123 प्रश्नों की सूची बोस्टन स्कूल के बच्चों का अध्ययन करने के लिए तैयार की। **पाइल्स, स्टोल्ज** आदि ने भी इस विधि का आश्रय लिया। इस विधि की सीमाएँ इस प्रकार हैं—

(i) बच्चे प्रश्नों का भाव कठिन भाषा होने के कारण समझ नहीं पाते।

(ii) काम (Sex) सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर नहीं मिल पाते।

(iii) जानबूझकर गलत उत्तर आ जाते हैं।

(iv) माता पिता पक्षपातपूर्ण उत्तर देते हैं।

(3) जीवन वृत्तान्त विधि—इस विधि द्वारा बालकों के जीवन-क्रम का लेखा-जोखा सतर्कतापूर्वक रखा जाता है। बालक के जन्म के समय होने वाली घटनाओं का संकलन किया जाता है। माता-पिता, अभिभावक तथा रिश्तेदारों से बालक के बारे में सूचना माँगी जाती है। सन् 1885 में **प्रेयर** ने जर्मनी में इस विधि का प्रयोग किया था।

(4) मनोभौतिकी विधि—इस विधि द्वारा बालक के मन तथा शरीर के सम्बन्धों के आधार पर व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। शरीर के विकास के साथ-साथ शरीर की अन्य मानसिक शक्तियों का विकास भी होता है। इसी अध्ययन पर **बिने** ने बुद्धि-लब्धि की कल्पना की तथा मानसिक आयु का विचार प्रतिस्थापित किया।

इसी विधि में उद्दीपन-अनुक्रिया के मध्य होने वाले सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। किसी भी उद्देश्य से शरीर तथा व्यवहार में क्या परिवर्तन होते हैं, यह जानना ही इस विधि का प्रमुख उद्देश्य है।

Scanned with OKEN Scanner

(5) आत्मनिष्ठ अंकन विधि—इस विधि में बालक के अनौपचारिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। इससे बालक के बारे में विभिन्न महत्त्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं। यह विधि सरल है तथा इससे प्राप्त सूचनाओं का उपयोग तुलना करने में किया जाता है।

(6) चिकित्सात्मक विधि—यह विधि साधारणतया विशिष्ट अधिगम, व्यक्तित्व या आचरण सम्बन्धी जटिल ग्रन्थियों के अध्ययन के लिए काम में लाई जाती है और उसमें विचाराधीन समस्या के अनुकूल विविध क्लिनिकल कार्य पद्धतियाँ तथा प्रविधियाँ इस्तेमाल की जाती हैं। उनका लक्ष्य इस बात को पहचानना अथवा ज्ञात करना होता है कि उनमें ग्रन्थि किन कारणों से पैदा हुई है और पात्र को क्या सहायता दी जानी चाहिये? बालकों में कभी-कभी असामान्य व्यवहार पाया जाता है। यदि इस असामान्य व्यवहार का समय रहते उपचार नहीं किया जाता तो उसमें मानसिक विक्षिप्तता विकसित होने लगती है। चिकित्सात्मक विधि द्वारा ही ऐसे बालकों का उपचार किया जाता है।

(7) सांख्यिकी विधि—इस विधि से प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण किया जाता है तथा परिणामों की विश्वसनीयता तथा वैधता की जाँच की जाती है।

(8) प्रयोगात्मक विधि—इस विधि का उपयोग नियोजित वातावरण में बालकों के विकास के अध्ययन में किया जाता है। इस विधि में एक वर्ग नियन्त्रित रहता है और एक प्रयोगात्मक। दोनों वर्गों से प्राप्त परिणामों की तुलना की जाती है। यह विधि मनोवैज्ञानिक, विश्वसनीय तथा वैध है।

प्रश्न 5. बाल मनोविज्ञान की उपयोगिता तथा महत्त्व का वर्णन कीजिए।
Describe the Usefulness and Importance of Child Psychology.

उत्तर—

बाल मनोविज्ञान की उपयोगिता और महत्त्व
(Usefulness and Importance of Child Psychology)

आधुनिक युग में बाल विकास का अध्ययन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस दिशा में हुए अध्ययनों से न केवल बालकों का ही कल्याण हुआ है बल्कि माता-पिता को बालकों को समझने में बहुत सुविधा भी मिली है तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मानव-समाज का भी कल्याण हुआ है। मनोविज्ञान की इस शाखा के अध्ययन से बालकों के जीवन को सुखी ही नहीं बनाया जा सकता है, बल्कि उनके व्यवहार को प्रशंसनीय और उनके जीवन को समृद्धिशाली भी बनाया जा सकता है। इस विषय के अध्ययनों से शिक्षक, बाल-चिकित्सक, बाल-सुधारक आदि सभी लाभान्वित हुए हैं। इस विषय की उपयोगिता और महत्त्व के सम्बन्ध में कितना भी लिखा जाए, कम है। संक्षेप में इस विषय की उपयोगिता और महत्त्व निम्नलिखित हैं—

(1) बालकों के शिक्षण और शिक्षा में उपयोगी (Useful in Teaching and Education of Children)—बालक में सीखने की प्रक्रिया का प्रारम्भ जन्म के कुछ दिनों बाद ही हो जाता है। जैसे-जैसे उसकी शारीरिक और मानसिक परिपक्वता बढ़ती जाती है, उसमें सीखने की क्षमता उतनी ही बढ़ती जाती है। साथ-ही-साथ वह जटिल चीजों को सीखने के लिए अधिक तथा और अधिक योग्य होता जाता है। प्रारम्भ में वह अपनी माँ के चेहरे को पहचानना सीखता है, फिर अन्य परिवारजनों अथवा उसके निकट रहने वाले लोगों को। इस प्रक्रिया के द्वारा बालक उठना, बैठना, दौड़ना, कूदना, बोलना आदि सब कुछ सीखता है। विभिन्न कौशलों का अधिगम भी वह करता है। कुछ विशेषताएँ वह परिपक्वता के साथ-साथ सामाजिक अन्तःक्रियाओं के कारण सीखता है, परन्तु अन्य विशेषताओं और गुणों को बालक को सिखाना भी पड़ता है। बालकों को सिखाने में उनकी शिक्षा और प्रशिक्षण में बाल विकास का ज्ञान बहुत उपयोगी है।

(2) बालकों के स्वभाव को समझने में उपयोगी (Useful for Understanding the Nature of Children)—बालकों के व्यवहार-विकास विभिन्न आयु-स्तरों पर बालकों की विभिन्न व्यवहार-विशेषताओं तथा विभिन्न व्यवहारों में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों का अध्ययन बाल मनोविज्ञान में किया जाता है। बाल विकास के ये सभी प्रकार के अध्ययन बालकों के स्वभाव को समझने में बहुत अधिक सहायक हैं, क्योंकि बाल विकास के अध्ययन से उनकी विभिन्न शारीरिक, मानसिक योग्यताओं, विभिन्न मनोवैज्ञानिक विशेषताओं तथा अन्तःक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। वास्तव में, इस ज्ञान के आधार पर ही बालकों की प्रकृति को अच्छी तरह समझा जा सकता है। विज्ञान की अन्य और कोई भी शाखा नहीं है, जिससे बालकों के स्वभाव और विकास आदि का ज्ञान प्राप्त किया जा सके। माता-पिता, शिक्षकों, बाल-सुधारकों एवं बाल-निर्देशनकर्त्ताओं आदि के लिए इस विषय का ज्ञान बहुत उपयोगी है, क्योंकि इस विषय के ज्ञान के आधार पर वे प्रत्येक आयु के बालक की व्यवहार-प्रकृति को सरलता से समझ सकते हैं।

(3) बालकों के विकास को समझने में सहायक (Helping to Understand the Development of Children)—सभी बालकों का विकास कुछ विशेष सिद्धान्तों और नियमों के आधार पर होता है, परन्तु बालकों में कुछ वैयक्तिक भिन्नताएँ पाई जाती हैं।

Scanned with OKEN Scanner

एक बालक कब चलना सीखता है? कब बोलना सीखता है? कब कपड़े पहनना सीखता है? कब कपड़ों में बटन लगाना और उतारना सीखता है? किस विकास अवस्था में कौन-परिपक्वता उत्पन्न होती है? गेसेल (1950) ने विकासात्मक कार्यों (Developmental Tasks) की एक सूची बनाई है। इस सूची से ज्ञात किया जा सकता है कि विभिन्न विकास-अवस्थाओं और आयु-स्तरों पर बालक में किन विशिष्ट व्यवहारों की अभिव्यक्ति होती है। भिन्न-भिन्न आयु-स्तरों पर बालकों की शारीरिक और मानसिक विशेषताओं के मानक (Norms) भी उपलब्ध हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बाल विकास के अध्ययन के द्वारा भिन्न-भिन्न आयु के बालकों के विकास को समझाया जा सकता है।

(4) बालकों के व्यक्तित्व-विकास को समझने में उपयोगी (Useful in Understanding Personality Development of Children)—बाल विकास के अध्ययनों में व्यक्तित्व-सम्बन्धी अध्ययन भी सम्मिलित हैं। इन अध्ययनों से बालकों के व्यक्तित्व विकास की भी जानकारी प्राप्त होती है। भिन्न-भिन्न आयु-स्तरों पर बालकों के व्यक्तित्व-विकास को कौन-कौन से कारक प्रभावित करते हैं, व्यक्तित्व विकास किन कारणों से असामान्य हो जाता है, आदि प्रश्नों को समझने में बाल विकास का ज्ञान सहायक है। इस विषय के ज्ञान के आधार पर यह भी ज्ञात हो जाता है कि व्यक्तित्व-विकास में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों की क्या-क्या प्रक्रियाएँ हैं।

(5) बाल-निर्देशन में सहायक (Useful in Child Guidance)—बालकों का निर्देशन समय-समय पर माता-पिता भी करते हैं और आवश्यकतानुसार बाल-निर्देशनकर्त्ता की भी सहायता ली जा सकती है। निर्देशन चाहे व्यक्तिगत हो या सामूहिक, दोनों प्रकार के निर्देशन में बाल विकास का ज्ञान सहायक है। बाल-विकास के नियमों और सिद्धान्तों आदि के आधार पर बालकों को शैक्षिक, व्यावसायिक, व्यक्तिगत, निर्देशन तो दिया ही जा सकता है, साथ ही रुचियों एवं कौशलों (Skills) के अधिगम के लिए भी उन्हें निर्देशित कर योग्य तथा कुशल बनाया जा सकता है।

(6) सुखी पारिवारिक जीवन बनाने में सहायक (Useful in Making Happy Family Life)—बच्चे परिवार की शोभा होते हैं। बच्चे यदि चरित्रवान, गुणवान, आकर्षक तथा आज्ञापालक हैं तो निश्चय ही ऐसे बच्चे माता-पिता और घर वालों की सुख, शान्ति तथा समृद्धि के लिए सहायक होते हैं। बाल विकास के अध्ययनों के आधार पर बच्चों में वांछित व्यवहारों को उत्पन्न किया जा सकता है और सुखी पारिवारिक जीवन की स्थापना की जा सकती है।

(7) बालकों के लिए उपयुक्त वातावरण बनाने में सहायक (Useful in Creating Good Environment for Children)—किस आयु के बालकों को क्या-क्या पसन्द होता है? भिन्न-भिन्न आयु-स्तरों पर उनकी क्या-क्या रुचियाँ होती हैं? इन सभी का ज्ञान बाल विकास अध्ययनों से प्राप्त होता है। इस विषय के ज्ञान के आधार पर उनके खेलने की उपयुक्त सुविधा, उनकी पसन्द के अनुसार रंग-बिरंगी वस्तुएँ तथा उपयुक्त सामाजिक वातावरण को निर्मित करने में बाल विकास का ज्ञान सहायक है। कई बार इसी विषय के ज्ञान के आधार पर रेडियो तथा टेलीविजन पर मनोरंजन कार्यक्रम दिये जाते हैं।

(8) बालकों के व्यवहार के नियन्त्रण में सहायक (Useful in Controlling the Behaviour of Children)—बाल विकास अध्ययनों के आधार पर बालकों के बुरे व्यवहार और आदतों को कम अथवा दूर किया जा सकता है। समय-समय पर लगभग हर बच्चे में थोड़ा बहुत प्रतीकात्मक भाषा बोलने, गाली देने, जिद करने, मारपीट करने, झूठ बोलने और चोरी करने जैसे लक्षण अक्सर देखे जाते हैं। बाल विकास के अध्ययनों, नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर बालकों के इस प्रकार के व्यवहार को नियन्त्रित किया जा सकता है।

(9) बाल-व्यवहार के सम्बन्ध में पूर्वकथन करने में सहायक (Useful in Prediction)—बाल विकास का एक व्यावहारिक उपयोग यह भी है कि इस विषय के ज्ञान के आधार पर भिन्न-भिन्न आयु के बालकों के सम्बन्ध में पूर्वकथन किया जा सकता है कि भिन्न-भिन्न आयु-स्तरों पर लड़के तथा लड़कियों की लम्बाई, भार, बुद्धि तथा व्यवहार सम्बन्धी विशेषताएँ क्या-क्या होंगी। ●

प्रश्न 6. बाल विकास की अवस्थाओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
Briefly describe the Periods of Child Development.

उत्तर—

बाल विकास की अवस्थाएँ
(Periods of Child Development)

लॉटन (Lowton) ने विकास की अवस्थाओं की चर्चा करते हुए कहा कि—*"हमारे जीवन का विस्तार अनेक अंशों में विभक्त है और प्रत्येक अंश के समायोजन की समस्या है। आयु एवं काल का सम्बन्ध आरम्भिक कथाओं से नहीं है। यह तो समस्या को हल करने की एक प्रणाली है। जीवन भर व्यक्ति अपनी समस्याओं को हल करने की विधि तथा प्रविधि का आविष्कार करता है। इनमें कुछ विधियाँ उपयोगी होती हैं तो कुछ अनुपयोगी। ये एक अंश से दूसरे अंश पर आरोपित भी की जा सकती हैं और नहीं भी की जा सकतीं।"* इस कथन से यह स्पष्ट है कि विकास की प्रक्रिया तो एक है किन्तु उसका विभाजन अनेक अवस्थाओं में है।

Scanned with OKEN Scanner

व्यक्ति का विकास अनेक चरणों में पूरा होता है। विद्वानों में विकास की इस प्रक्रिया को लेकर अनेक मतभेद रहे हैं। हम यहाँ पर कुछ विद्वानों द्वारा किये गये विकास की अवस्थाओं का वर्गीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(1) **सैले** ने विकास प्रक्रिया का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया है—
- (a) **शैशव** (Infancy)—1 से 5 वर्ष तक
- (b) **बाल्यकाल** (Childhood)—5 से 12 वर्ष तक
- (c) **किशोरावस्था** (Adolescence)—12 से 18 वर्ष तक

(2) **रॉस** (Ross) ने अपने ढंग से विकास की अवस्थाएँ इस प्रकार बताई हैं—
- (a) **शैशव**—1 से 3 वर्ष तक
- (b) **आरम्भिक बाल्यकाल**—3 से 6 वर्ष तक
- (c) **उत्तर बाल्यकाल**—6 से 12 वर्ष तक
- (d) **किशोरावस्था**—12 से 18 वर्ष तक

(3) **कॉलसनिक** (Kalesnic) ने विकास प्रक्रिया का वर्गीकरण बहुत अधिक चरणों में किया है—
- (a) **गर्भाधान से जन्म तक**—पूर्व जन्म काल (Prenatal Period)
- (b) **नवशैशव** (Neonatal)—जन्म से 3 या 4 सप्ताह तक
- (c) **आरम्भिक शैशव** (Early Infancy)—1 या 2 मास से 15 मास तक
- (d) **उत्तर शैशव** (Late Infancy)—15 से 30 मास तक
- (e) **पूर्व बाल्यकाल** (Early Childhood)—2.5 से 5 वर्ष तक
- (f) **मध्य बाल्यकाल** (Middle Childhood)—9 से 12 वर्ष तक
- (g) **किशोरावस्था** (Adolescence)—12 से 21 वर्ष तक

विद्वानों ने सामान्यतः इस वर्गीकरण को अपने अध्ययनों का आधार बनाया है। इस आधार पर हमने इस पुस्तक में उक्त प्रकरणों पर चर्चा की है।

(1) **गर्भाधान** (Prenatal) **काल**—गर्भाधान से 250 या 300 दिन तक
- (a) **भ्रूणिक** (Germinal)—0 से 2 सप्ताह तक
- (b) **भ्रूणीय** (Embroynic)—2 से 10 सप्ताह तक
- (c) **भ्रूण** (Foetal)—10 सप्ताह से जन्म तक

(2) **बाल्यकाल** (Childhood)—जन्म से 12 वर्ष तक
- (a) **शैशव** (Infancy)—जन्म से 3 वर्ष तक
- (b) **पूर्व बाल्यकाल**—3 से 6 वर्ष तक
- (c) **उत्तर बाल्यकाल**—6 से 12 वर्ष तक

(3) **किशोरावस्था**—13 से 19 वर्ष तक

(4) **परिपक्वावस्था** (Adulthood)—20 वर्ष तथा ऊपर।

अध्ययन की सुविधा के लिए हम विकास प्रक्रिया को इस प्रकार विभाजित करेंगे—

(1) गर्भकालीन अवस्था (Prenatal Period)

यह अवस्था गर्भाधान से जन्म के समय तक मानी जाती है। इस अवस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्न होती हैं—

(a) इस अवस्था में विकास की गति अन्य अवस्थाओं की तुलना में अति तीव्र होती है।

(b) समस्त शरीर रचना, भार और आकार में वृद्धि तथा आकृतियों का निर्माण इसी अवस्था में होता है।

(c) इस अवस्था में होने वाले परिवर्तन मुख्यतः शारीरिक ही होते हैं।

सम्पूर्ण गर्भकालीन अवस्था को विकास के अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) बीजावस्था (Germinal Period)

(ii) भ्रूणावस्था (Embryonic Period)

(iii) गर्भकालीन अवस्था (Foetus Period)

Scanned with OKEN Scanner

(i) बीजावस्था (गर्भाधान से दो सप्ताह तक)—गर्भाधान से दो सप्ताह तक की अवस्था को 'बीजावस्था' कहा जाता है। इस अवस्था में जीव अण्डे (Cell) के आकार का होता है तथा उसके भीतर कोशिका विभाजन की क्रिया होती रहती है, किन्तु ऊपर से कोई परिवर्तन दिखायी नहीं देता है। लगभग एक सप्ताह तक यह अण्डाकार जीव गर्भाशय के तरल स्राव में तैरता रहता है और अपना पोषण स्वयं ही करता है, किन्तु गर्भाधान के दस दिन बाद यह गर्भाशय की दीवार से चिपक जाता है। इस क्रिया को 'आरोपण' (Implantation) कहते हैं। इस समय से गर्भस्थ जीव अपने पोषण के लिए माँ के शरीर पर आश्रित हो जाता है।

(ii) भ्रूणावस्था (तीसरे सप्ताह से दूसरे माह तक)—भ्रूणावस्था गर्भकालीन विकास की दूसरी महत्वपूर्ण अवस्था है, जो तीसरे सप्ताह से प्रारम्भ होकर दूसरे माह के अन्त तक चलती है। इस अवस्था में गर्भस्थ जीवन को 'भ्रूण' (Embryo) कहते हैं। विकास की गति इस अवस्था में अत्यधिक तीव्र रहती है, जिससे भ्रूण के अन्दर तेजी से परिवर्तन होते हैं। शरीर के सभी प्रमुख अंगों का निर्माण भी इसी अवस्था में होता है। दूसरे माह के अन्त तक भ्रूण की लम्बाई 1.25 इंच से 2 इंच तथा भार लगभग 2 ग्राम हो जाता है। इस समय भ्रूण का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। सिर का आकार अन्य अंगों की तुलना में बड़ा होता है। कान भी सिर से काफी नीचे स्थित होते हैं। नाक के स्थान पर केवल एक छेद होता है और माथा काफी चौड़ा होता है।

भ्रूण का निर्माण तीन परतों से होता है—बाहरी परत को Ectoderm, मध्य परत को Mesoderm तथा आन्तरिक परत को Endoderm कहा जाता है। यही तीनों पर्तें शरीर के विभिन्न अंगों का निर्माण करती हैं। बाह्य परत से त्वचा, दाँत, बाल तथा नाड़ी मण्डल का निर्माण होता है। मध्य परत से अन्तःत्वचा तथा माँसपेशियाँ बनती हैं तथा आन्तरिक परत फेफड़े, यकृत, पाचन तन्त्र तथा आन्तरिक ग्रन्थियों का निर्माण करती है।

(iii) गर्भकालीन अवस्था (तीसरे माह से जन्म पूर्व तक)—गर्भावस्था की अन्तिम अवस्था गर्भकालीन अवस्था कहलाती है, जो तीसरे माह से प्रारम्भ होकर शिशु के जन्म लेने तक रहती है। यह अवस्था निर्माण की नहीं, बल्कि विकास की होती है। गर्भकालीन अवस्था में शरीर के अंगों का निर्माण हो चुका होता है, उनका विकास ही इस अवस्था में होता है। गर्भकालीन अवस्था के प्रारम्भ होने से प्रत्येक माह गर्भस्थ शिशु के आकार तथा भार में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। इस अवस्था में हृदय, फेफड़े तथा नाड़ी मण्डल कार्य प्रारम्भ कर देते हैं।

(2) शैशवावस्था (Infancy)

जन्म से लेकर 15 दिन की अवस्था को 'शैशवावस्था' कहा जाता है। इस अवस्था में शिशु के अन्दर कोई विशेष शारीरिक तथा मानसिक लक्षण दृष्टिगत नहीं होते हैं। इस अवस्था को 'समायोजन की अवस्था' (Period of Adjustment) भी कहा जा सकता है, क्योंकि इस समय शिशु स्वयं को नये वातावरण के साथ समायोजित करने का प्रयास करता है। अतः इस अवस्था में उसकी अत्यधिक देखभाल की आवश्यकता होती है। उचित देखभाल के अभाव में वह रोगी हो सकता है। चूँकि इस समय शिशु असहाय होता है। अतः उसकी उचित देखभाल द्वारा नये वातावरण के साथ समायोजन का कार्य माता-पिता द्वारा किया जाता है।

(3) बचपनावस्था (Babyhood)

बाल विकास की तीसरी अवस्था 'बचपनावस्था' कहलाती है। यह अवस्था दो सप्ताह से प्रारम्भ होकर दो वर्ष तक चलती है। यह अवस्था दूसरों पर निर्भर होने की होती है, क्योंकि वह इतना छोटा और शारीरिक रूप से अशक्त होता है कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकता है, लेकिन इस अवस्था के अन्त तक वह अपनी माँसपेशियों पर नियन्त्रण करना सीख जाता है और स्वयं चलने, बोलने और भोजन करने की क्रियाओं को स्वयं करने लगता है।

इस अवस्था से बच्चा स्वकेन्द्रित होता है। वह अपनी प्रत्येक वस्तु; जैसे—माता-पिता, खिलौने तथा आस-पास की वस्तुओं पर अपना एकाधिकार समझता है और यदि इस समय उसकी इस एकाधिकार की मनोवृत्ति को परिवर्तित करने का प्रयास किया जाता है तो वह जिद्दी हो जाता है। उसके सम्पूर्ण व्यवहार व क्रियाकलाप में नैतिकता नहीं होती है, क्योंकि उसका व्यवहार मूल प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित होता है।

संवेगात्मक विकास की दृष्टि से इस अवस्था में बच्चे के भीतर लगभग सभी प्रमुख संवेग; जैसे—प्रसन्नता, क्रोध, हर्ष, प्रेम, भय, घृणा आदि का उदय हो जाता है। यह अवस्था संवेग प्रधान होती है। इस अवस्था में संवेगों का प्रकटीकरण त्वरित होता है, किन्तु वे क्षणिक होते हैं।

(4) बाल्यावस्था (Childhood)

विकास की दृष्टि से बाल्यावस्था एक महत्त्वपूर्ण अवस्था मानी जाती है, क्योंकि यह अवस्था शारीरिक व मानसिक विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण होती है। दो से बारह वर्ष की अवस्था को बाल्यावस्था माना गया है, लेकिन अध्ययन की दृष्टि से इसे अग्रांकित दो भागों में विभाजित किया गया है—

Scanned with OKEN Scanner

(i) पूर्व बाल्यावस्था—Early Childhood (2 से 6 वर्ष)
(ii) उत्तर बाल्यावस्था—Late Childhood (7 से 12 वर्ष)

यह अवस्था भी 'समायोजन की अवस्था' होती है। बालक नित्य-प्रतिदिन सभी क्षेत्रों में अपने नये वातावरण के साथ समायोजन का प्रयास करता है।

इस अवस्था में बालकों की 'जिज्ञासा प्रवृत्ति' अधिक हो जाती है। नये वातावरण में समायोजन से पूर्व वह उसके बारे में जानना चाहता है, जिससे वह अपने माता-पिता तथा शिक्षकों से तरह-तरह के प्रश्न करता है।

बाल्यावस्था में बालकों में 'समूह-प्रवृत्ति' (Gregariousness) का विकास होता है। अब वह बचपनावस्था के समान स्व:प्रेमी नहीं रहता है, अपितु खेल के साथियों के साथ रहना पसन्द करता है।

'सामाजिकता' की दृष्टि से भी यह अवस्था अति महत्त्वपूर्ण होती है। समूह प्रवृत्ति के कारण अच्छी सामाजिकता का विकास होता है। समूह में रहने से बालकों के अन्दर अनेक सकारात्मक गुणों; जैसे—अनुकरण, खेल, सहयोग, सहानुभूति, नैतिकता आदि का विकास होता है।

सकारात्मक गुणों के साथ-साथ कुछ नकारात्मक गुण भी प्रकट होते हैं; जैसे—द्वन्द्व, स्पर्धा, झगड़ा तथा मारपीट, आक्रामकता आदि, परन्तु इन सभी नकारात्मक गुणों का प्रदर्शन वह सामाजिक समायोजन के लिये ही करता है जिससे उसमें आत्मनिर्भरता की भावना का विकास होता है।

बाल्यावस्था बालक को जीवन की अनेकों वास्तविकताओं से परिचित कराती है, जिनके बीच रहकर वह अपने जीवन की समस्याओं को हल करने का तरीका सीख लेता है, जो उसके किशोर जीवन के लिए आधार का कार्य करती है।

(5) वय:संधि (Puberty)

वय:संधि बाल्यावस्था और किशोरावस्था को मिलाने में सेतु का कार्य करती है। यह अवस्था बहुत कम समय की होती है, किन्तु शारीरिक विकास की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण अवस्था है। इस अवस्था का कुछ भाग बाल्यावस्था और कुछ किशोरावस्था से जुड़ा रहता है। इस अवस्था की प्रमुख विशेषता यौन अंगों की परिपक्वता तथा काम शक्ति का उदय होना है।

यौन भिन्नता इस अवस्था को प्रभावित करती है। बालिकाओं में यह अवस्था सामान्यत: 11 से 13 वर्ष के बीच प्रारम्भ हो जाती है और बालकों में 12 से 13 वर्ष के बीच।

इस अवस्था में शारीरिक ही नहीं मानसिक विकास की गति भी अत्यधिक तीव्र होती है। संवेगात्मक और सामाजिक विकास की दृष्टि से भी यह अवस्था अपना महत्त्व रखती है। इस अवस्था में यौन अंगों के विकास के कारण शरीर में अनेकों आन्तरिक तथा बाह्य परिवर्तनों के कारण कभी-कभी बालक और बालिका संवेगात्मक रूप से विचलित हो जाते हैं और सामाजिक नियन्त्रण खो देते हैं। अत: इस अवस्था में माता-पिता को बच्चों को शरीर में होने वाले परिवर्तनों के बारे में अच्छी तरह से बताना चाहिये।

(6) किशोरावस्था (Adolescence)

किशोरावस्था को 13-19 वर्ष तक मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे 'टीन एज' (Teen age) भी कहा है। यह अवस्था बालक के विकास की सबसे जटिल अवस्था मानी जाती है।

(7) प्रौढ़ावस्था (Adulthood)

किशोरावस्था के पश्चात् 20-40 वर्ष तक की अवस्था को 'प्रौढ़ावस्था' कहते हैं। प्रौढ़ावस्था कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्व के निर्वाह की अवस्था है, जिसमें व्यक्ति अपने जीवन के लक्ष्यों को पाने का प्रयास करता है। यह अवस्था पारिवारिक जीवन में प्रवेश की अवस्था है तथा इस अवस्था में व्यक्ति पारिवारिक दायित्वों की पूर्ति के लिए महत्वपूर्ण निर्णय लेता है।

(8) मध्यावस्था (Middle Age)

41 से 60 वर्ष की अवस्था को 'मध्यावस्था' माना गया है, जिसमें व्यक्ति के भीतर अनेकों शारीरिक व मानसिक परिवर्तन होते हैं। इस अवस्था में काम शक्ति का ह्रास होने लगता है जिससे व्यक्ति की रुचियाँ बदलने लगती हैं। इस समय व्यक्ति सुख-शांति और प्रतिष्ठा से जीने की कामना करने लगता है। उसका चिन्तन यथार्थवादी तथा सामाजिक सम्बन्धों के प्रति मनोवृत्तियाँ दृढ़ हो जाती हैं। इस समय व्यक्ति को अपनी सन्तान के साथ समायोजन करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि आयु के अन्तराल के कारण दोनों के विचारों, सोचने के तरीकों और मनोवृत्तियों में अन्तर होता है। उचित समायोजन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने परिवार के सदस्यों के साथ उचित तालमेल रखे, जिससे उसकी वृद्धावस्था मानसिक सन्तुष्टि व शांति के साथ व्यतीत हो।

Scanned with OKEN Scanner

(9) वृद्धावस्था (Old Age)

जीवन की अन्तिम अवस्था 'वृद्धावस्था' है, जो 60 वर्ष से प्रारम्भ होकर जीवन के अंतिम समय तक मानी जाती है। यह अवस्था 'ह्रास की अवस्था' (Period of Decline) होती है। इस अवस्था में शारीरिक व मानसिक क्षमताओं का ह्रास होने लगता है। शारीरिक क्षमता में कमी के कारण शरीर की क्रियाशीलता कम हो जाती है। इस अवस्था में मानसिक परिवर्तन भी तीव्र गति से होते हैं। व्यक्ति की रुचियों, मनोवृत्तियों व आदतों में परिवर्तन हो जाता है तथा स्मरण शक्ति कम हो जाती है। इन अनेक कारणों से वृद्ध व्यक्तियों की समायोजन समस्या प्रबल हो जाती है। चूँकि यह अवस्था व्यावसायिक जीवन से अवकाश की अवस्था होती है। अतः वृद्ध व्यक्तियों की यह अवधारणा बन जाती है कि अब परिवार व समाज को उनकी आवश्यकता नहीं है अर्थात् वे दूसरों पर बोझ हैं। उनकी यह अवधारणा उनमें मानसिक तनाव उत्पन्न करती है। वे जिद्दी और क्रोधी हो जाते हैं, जिससे परिवार के साथ समायोजन में कठिनाई होती है।

प्रश्न 7. नवजात शिशु की क्या विशेषताएँ हैं? वर्णन कीजिए।
What are the Special Features of a Neonate? Describe.

उत्तर— गर्भस्थ शिशु, जो माँ के शरीर से जन्म लेता है, उसे 'नवजात शिशु' (Neonate) कहते हैं। Neonate लैटिन भाषा का शब्द है, जो सम्भवतः ग्रीक भाषा के शब्द Neos से बना है, जिसका अर्थ है—नया। नवजात शिशु (Neonate) शब्द का अर्थ है—वह नवजात शिशु, जिसकी आयु अधिक-से-अधिक 30 दिन की हो, जन्म से आधा घण्टा आयु तक का बालक Partunate कहलाता है। Partunate Period वह है, जिसमें बच्चे के Umbilical Cord को काटकर बच्चों को माँ से अलग किया जाता है। वह एक स्वतन्त्र और माँ से भिन्न जीव बन जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिक Neonate के स्थान पर New Born Infant शब्द का प्रयोग करते हैं और इसकी आयु जन्म से केवल 10 दिन तक मानते हैं। नवजात शिशु की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार से हैं—

(अ) शारीरिक विकास से सम्बन्धित विशेषताएँ
(Properties Related to Physical Development)

शारीरिक विकास से सम्बन्धित निम्नलिखित चार विशेषताएँ हैं—

(1) नवजात शिशु का आकार (Size of the Neonate)

जन्म के समय नवजात शिशु का औसत भार 7.5 पौण्ड तथा औसत लम्बाई 19.5 इंच होती है। भार के औसत का विस्तार 3 से 16 पौण्ड तक तथा लम्बाई के औसत का विस्तार 15 से 21 इंच तक होता है। अक्सर जन्म के समय लड़के लड़कियों की अपेक्षा अधिक लम्बे होते हैं। नवजात शिशु के आकार को अनेक कारक प्रभावित करते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख कारक निम्न प्रकार से हैं—

(i) माँ का आहार (Maternal Diet)—माँ के आहार में प्रोटीन की मात्रा शिशु के आकार को सर्वाधिक प्रभावित करती है। **स्मिथ और वाइन्स** (Smith, 1947; Wines, 1947) के अनुसार, *"माँ के आहार में पोषक तत्व जितने ही कम मात्रा में होंगे, नवजात शिशु का आकार उतना ही छोटा होता है।"* एक अन्य अध्ययन (Burke, et. al., 1949) में यह देखा गया कि गर्भावस्था के अन्तिम माह में माँ द्वारा लिया गया आहार नवजात शिशु के आकार को सर्वाधिक प्रभावित करता है।

(ii) आर्थिक स्तर (Economic Status)—माता-पिता के आर्थिक स्तर का सम्बन्ध माँ के आहार की मात्रा और गुण से है। **गिब्सन** (Gibson, 1951) ने अपने अध्ययनों में देखा कि उन लोगों में, जिनका आर्थिक स्तर निम्न होता है, उनके बच्चे आकार में छोटे और कम भार वाले उत्पन्न होते हैं।

(iii) जन्मक्रम (Birth Order)—एक अध्ययन (H. B. Meredith, 1950) में देखा गया है कि स्त्री का पहला बच्चा लम्बाई में बाद के बच्चों की अपेक्षा 1% छोटा तथा 9% हल्का होता है।

(iv) गर्भस्थ शिशु की क्रियाएँ (Fetal Activity)—अध्ययनों में देखा गया है कि जो गर्भस्थ शिशु गर्भकालीन अवस्था में अधिक क्रियाशील होते हैं, वे जन्म के समय दुबले-पतले और कम भार के होते हैं।

(v) अन्य कारक (Other Factors)—जिन बच्चों को जन्म के 6 घण्टे या इसके बाद Feed किया जाता है, वे अपना भार कम (lose) करते हैं। कुछ अध्ययनों (Brown, 1939; Salber & Bradshaw, 1953, 1954) में देखा गया है कि जो बच्चे वसन्त और ग्रीष्म ऋतु में पैदा होते हैं, उनका अपना भार जल्दी बढ़ता है, परन्तु यह ठंडे देशों के लिए सही है। अपने देश में जो बच्चे शीत ऋतु के प्रारम्भ में पैदा होते हैं, उनका अपना भार शीघ्र बढ़ता है। यह देखा गया है कि नया बच्चा जन्म के 7 दिन तक भार में घटता है और 7 दिन के बाद उसका अपना भार बढ़ने लग जाता है। जन्म से सात दिन के बाद शिशु का भार कितना शीघ्र बढ़ेगा, यह कई कारकों पर निर्भर करता है; जैसे—नवजात शिशु का जन्मक्रम, यौन, जन्म के समय आकार तथा जन्म का प्रकार आदि।

Scanned with OKEN Scanner

(2) शारीरिक अनुपात (Physical Proportions)

हरलॉक (1968) का विचार है कि, *"नवजात शिशु वयस्क व्यक्ति नहीं है।" (The Neonate is not an Adult)* नवजात शिशु के शारीरिक अनुपात वयस्क व्यक्तियों की अपेक्षा भिन्न होते हैं। उसका सिर उसके सम्पूर्ण शरीर का 1/4 होता है, जबकि वयस्क व्यक्तियों में सिर और शरीर का अनुपात 1 : 7 होता है। खोपड़ी (Cranium) और चेहरे का अनुपात 8 : 1 होता है। नवजात शिशु के कन्धे पतले, गर्दन सँकरी, पेट कुछ लम्बा, नाक चपटी और जबड़े अविकसित होते हैं। उसकी भुजाएँ धड़, पैर और सिर की तुलना में छोटी होती हैं।

(3) नवजात शिशु के विशिष्ट गुण (Infantile Features)

नवजात शिशु के कुछ प्रमुख विशिष्ट गुण निम्न प्रकार से हैं—

(i) त्वचा (Skin)—जन्म के समय बालक की त्वचा हल्के गुलाबी रंग की होती है। लगभग जन्म के 15 दिन बाद त्वचा का रंग स्थायी होने लग जाता है।

(ii) आँखें (Eyes)—जन्म के समय आँखें हल्के भूरे रंग की होती हैं तथा जन्म के कुछ ही दिनों में आँखों का रंग बदलकर कोई स्थायी रंग बन जाता है जबकि अधिकांश बच्चों की आँखें काली होती हैं। आँखें आकार की दृष्टि से परिपक्व लगती हैं, परन्तु इनका इनकी गतियों पर कोई विशिष्ट नियन्त्रण नहीं होता है। दोनों आँखों में कोई समन्वय नहीं होता है। ऐसा लगता है कि नवजात शिशु एक आँख से एक ओर और दूसरी आँख से दूसरी ओर देख रहा है।

(iii) दाँत (Teeth)—जन्म के समय शिशुओं में दाँत नहीं पाए जाते हैं। **मेसलर** (Massler & Savara, 1950) ने अपने एक अध्ययन में देखा कि अमेरिका में 2000 शिशुओं में एक शिशु के जन्म के समय दाँत अवश्य होते हैं। यह दाँत निचले जबड़े में आगे की ओर होते हैं। अपने देश में नवजात शिशु के दाँत होना और भी अनोखी बात है। जन्म के समय दाँतों के होने का कारण Genetic Factors है।

(iv) गर्दन (Neck)—नवजात शिशु की गर्दन बहुत छोटी होती है। चूँकि सम्पूर्ण शरीर की अपेक्षा सिर बड़ा होता है, अतः छोटी गर्दन दिखाई देती है। ऐसा लगता है कि बालक का सिर, धड़ से ही जुड़ा हुआ है।

(v) माँसपेशियाँ (Muscles)—नवजात शिशु की माँसपेशियाँ छोटी और मुलायम होती हैं। शिशु का इन पर अधिक नियन्त्रण नहीं होता है। पैर और गर्दन की माँसपेशियाँ शरीर की अन्य माँसपेशियों की अपेक्षा कम विकसित होती हैं।

(vi) बाल (Hair)—नवजात शिशु के बाल रेशम की तरह मुलायम होते हैं। पीठ और कन्धों पर भी रेशम की तरह मुलायम बाल होते हैं, जो जन्म से कुछ ही सप्ताह बाद झड़ जाते हैं।

(vii) हड्डियाँ (Bones)—शिशु की हड्डियाँ बहुत लचीली, कोमल और कार्टिलेज की बनी हुई होती हैं।

(4) शरीरशास्त्रीय क्रियाएँ (Physiological Functions)

बालकों की अपेक्षा नवजात शिशुओं की शरीरशास्त्रीय क्रियाएँ निम्न प्रकार से भिन्न होती हैं—

(i) हृदय की धड़कन (Heart Beats)—वयस्क व्यक्तियों की अपेक्षा नवजात शिशु के हृदय की धड़कनें अधिक होती हैं; क्योंकि नवजात शिशु का हृदय आकार में छोटा होता है। एक अध्ययन (H. J. Grossman, N. H. Greenberg, 1957) के अनुसार सामान्य रक्तचाप (Blood Pressure) बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि हृदय की धड़कनें अपेक्षाकृत अधिक गति से हों।

(ii) श्वसन-क्रिया (Respiration)—नवजात शिशु जन्म होते ही रोना प्रारम्भ करता है। रोने से उसके फेफड़े फूल जाते हैं और श्वसन-क्रिया आरम्भ हो जाती है (C. A. Smith, 1963)। स्पष्ट है कि शिशु का जन्म होते ही शिशु का रोना उसके जीने के लिए अति आवश्यक है। जन्म के समय प्रारम्भ में श्वसन-गति 40 से 50 Breathing Movement प्रति मिनट होती है, परन्तु एक सप्ताह के अन्त तक यह गति 35 गतियाँ प्रति मिनट रह जाती हैं। प्रौढ़ व्यक्तियों में श्वसन की गति 18 गतियाँ प्रति मिनट होती हैं। जब शिशु जागता है तब श्वसन की गति कम 32.3 गतियाँ प्रति मिनट और जब वह रोता है, उस समय श्वसन-गति 133.3 गतियाँ प्रति मिनट पहुँच जाती हैं।

(iii) तापक्रम (Temperature)—नवजात शिशुओं में, चाहे वह अधिक स्वस्थ क्यों न हों, उनके शरीर का तापमान वयस्क व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ अधिक ही नहीं होता है बल्कि यह परिवर्तनशील (Variable) भी अधिक होता है। नवजात शिशुओं का तापमान 98.2 से 99° फारेनहाइट तक होता है।

(iv) चूसने सम्बन्धी सहजक्रिया गतियाँ (Reflex Sucking Movements)—जब नवजात शिशु के होंठ छुए जाते हैं अथवा जब वह भूखा होता है, उस समय उसमें चूसने सम्बन्धी सहज क्रियात्मक गतियाँ होती हैं। एक अध्ययन (B. Spock, 1964) में यह देखा गया कि जो शिशु स्तनपान करते हैं, उनमें Sucking Movements अन्य बच्चों की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाए जाते हैं।

Scanned with OKEN Scanner

(v) **नींद** (Sleep)—नवजात शिशु पन्द्रह से बीस घण्टे प्रतिदिन सोता है, परन्तु वह इतने घण्टे लगातार नहीं सोता है। वह लगभग दो-दो घण्टे की नींद लेता है। जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती जाती है, उसकी नींद का अन्तराल बढ़ता जाता है तथा उसकी नींद भी दो-दो घण्टे के बजाय अधिक समय की होती है। भूख होने पर, पीड़ा होने पर या आन्तरिक कष्ट होने पर उसकी नींद खुल जाती है।

(vi) **नाड़ी की गति** (Pulse Rate)—जन्म के समय शिशु की नाड़ी की गति 130 से 150 Beats प्रति मिनट होती है, परन्तु कुछ ही दिनों बाद यह केवल 177 रह जाती है। वयस्क व्यक्तियों में नाड़ी की गति केवल 70 Beats प्रति मिनट होती है। सोते समय शिशुओं की नाड़ी की गति 123.5 Beats प्रति मिनट तथा रोते समय 218.5 Beats प्रति मिनट होती है।

(vii) **भूख के आकुंचन** (Hunger Rhythms)—जन्म के समय बालक में भूख आकुंचन नहीं होते हैं। यह आकुंचन दो या तीन सप्ताह की आयु के बाद विकसित होते हैं। एक अध्ययन (Pratt, 1954) के अनुसार, *"नवजात शिशुओं का पेट 4 से 5 घण्टे में खाली हो जाता है। उनकी छोटी आँतें 7 से 8 घण्टे में खाली हो जाती हैं तथा बड़ी आँतें 2 से 14 घण्टे में खाली होती हैं। शिशु मल-मूत्र त्याग अक्सर Feeding के 1/2 घण्टे बाद करता है। चौबीस घण्टे में शिशु लगभग 5 बार मल-मूत्र का त्याग करता है।"* यह देखा गया है कि शिशु जिस समय मल-मूत्र का त्याग करता है, उस समय वह चुप रहता है (Halverson, 1940)।

(ब) नवजात शिशु की क्रियाएँ (Activities of the Neonate)

नवजात शिशु की क्रियाएँ अनायास होती हैं। अधिकांश व्यर्थपूर्ण प्रकृति की होती हैं। नवजात शिशुओं की क्रियाओं को मुख्यतः निम्नलिखित दो भागों में बाँट सकते हैं—

(1) सामान्य क्रियाएँ (Mass Activities)

यह शिशु की वे क्रियाएँ हैं, जिनमें उसका सम्पूर्ण शरीर सम्बन्धित रहता है। यदि बालक के शरीर को कहीं से स्पर्श किया जाए तो बालक सम्पूर्ण शरीर के द्वारा अनुक्रिया करता है। यह भी देखा गया है कि बालक के दाहिने हाथ को यदि स्पर्श किया जाए तो बालक अपने बाएँ हाथ से भी समान अनुक्रिया करता है। **केसेन** (W. Kessen, et. al., 1961) के अनुसार, *"पहले पाँच दिन तक बालक की सामान्य अनुक्रियाओं की मात्रा बढ़ती ही जाती है।"* प्रातःकाल शिशुओं की यह सामान्य अनुक्रियाएँ अधिक मात्रा में होती हैं तथा अन्य समय में कम (Irwin, 1930)। बालक में अधिकतर गतियाँ उसके चेहरे और हाथ-पैरों में होती हैं जबकि शरीर के अन्य सभी अंगों में कम। गर्भकालीन अवस्था में जिन शिशुओं में क्रियाशीलता अधिक होती है, जन्म के बाद इन शिशुओं में क्रियाशीलता अधिक रहती है (Sontag, 1946)। यह भी देखा गया है कि भूख में, पीड़ा में, आन्तरिक कष्ट में या शिशु को जब कोई शारीरिक असुविधा होती है, तब उसकी यह Mass Activities बढ़ जाती है। अधिक प्रकाश या अधिक अँधेरे वाले स्थान पर यदि शिशु को ले जाया जाये, तो भी उसकी 'मास एक्टीविटीज' बढ़ जाती है। वातावरण के तापक्रम का प्रभाव भी बालक की इन क्रियाओं पर पड़ता है; परन्तु तापक्रम में थोड़ा परिवर्तन शिशु की इन क्रियाओं को प्रभावित नहीं करता है।

(2) विशिष्ट क्रियाएँ (Specific Activities)

ये क्रियाएँ निम्नलिखित दो प्रकार की होती हैं—

(i) **सहज-क्रियाएँ** (Reflexes)—यह वह क्रियाएँ हैं, जो शिशु विशिष्ट संवेदनात्मक उद्दीपकों के प्रति एक निश्चित ढंग से करता है। यदि संवेदनात्मक उद्दीपक बार-बार उपस्थित किया जाए, तो भी ये क्रियाएँ परिवर्तित नहीं होती हैं। कुछ प्रमुख सहज-क्रियाएँ, जो शिशु में पाई जाती हैं, वह इस प्रकार से हैं—(a) आँख की पुतली से सम्बन्धित सहज क्रियाएँ (Pupilary Reflexes)—यह आँख की पुतली घटने-बढ़ने की सहज-क्रिया है। इसके द्वारा बालक आँख की सुरक्षा करता है। उसे अँधेरे से उजाले में ले जाये या उजाले से अँधेरे में ले जायें, तो वह इस सहज-क्रिया द्वारा अनुकूलन करते हैं। जन्म के लगभग दो घण्टे में ही यह सहज-क्रिया दृष्टिगोचर होने लग जाती है। (b) पाँव के तलुवे से सम्बन्धित सहज-क्रियाएँ (Babinski Reflexes)—यह वह सहज-क्रिया है, जिसमें यदि बालक के पाँव के तलवे को स्पर्श किया जाए, तो वह पैर की उँगलियों को पंखे के समान फैला देता है (Fanning of Toes)। यह सहज-क्रिया नवजात शिशुओं में ही देखी गई है। लगभग छह महीने की आयु तक यह समाप्त हो जाती है। (c) माँसपेशियों से सम्बन्धित सहज-क्रियाएँ (Tendon Reflexes)—यह वह सहज-क्रिया है, जिसमें यदि बालक की माँसपेशी को स्पर्श किया जाए, तो माँसपेशी में आकुंचन होता हुआ दिखाई देता है। (d) चूसण सहज-क्रियाएँ (Sucking Reflexes)—शिशु के गालों या ओठों को यदि स्पर्श किया जाए, तो शिशु ओठों से चूसने की अनुक्रिया प्रदर्शित करता है। (e) अन्य सहज-क्रियाएँ (Other Reflexes)—छींकने, श्वास लेने, हृदय-धड़कन सम्बन्धी, उदर-सम्बन्धी आदि सहज-क्रियाएँ भी नवजात शिशुओं में पाई जाती हैं।

(ii) **सामान्यीकृत अनुक्रियाएँ** (Generalized Responses)—यह वह अनुक्रियाएँ हैं, जिनमें शरीर के एक से अधिक भाग सम्मिलित होते हैं। जन्म के दो-तीन दिन तक शिशु की आँखें कभी खुल जाती हैं तो कभी बन्द हो जाती हैं। उसकी दोनों आँखों की

Scanned with OKEN Scanner

क्रियाएँ समन्वयीकृत नहीं होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक आँख से एक ओर और दूसरी आँख से दूसरी ओर देख रहा है। शिशु पहले दिन प्रकाश की ओर बहुत थोड़ी देर देख सकता है। कई बार जन्म के समय शिशुओं की आँखों से आँसू निकलते भी देखे गये हैं। इसी प्रकार जन्म के लगभग 20 मिनट बाद शिशुओं को अपना अँगूठा चूसते भी देखा गया है। जन्म के समय शिशु कभी अपना मुँह खोल लेता है, तो कभी बन्द कर लेता है। जन्म के कुछ दिनों तक बालक अपने सिर को बहुत थोड़ा घुमा सकता है। जन्म के कुछ दिनों बाद बालक को यदि बैठाया जाए, तो बैठाने पर वह आगे की ओर गिरता है। वह बिना किसी उद्देश्य के हाथ की मुट्ठी खोलता है और कभी बन्द कर लेता है। उसके हाथ और पैरों में गतियाँ जन्म के तुरन्त बाद प्रारम्भ हो जाती हैं।

(स) नवजात शिशु का क्रन्दन (Crying of the Neonate)

नवजात शिशु का क्रन्दन जन्म के समय या जन्म के कुछ ही देर बाद में प्रारम्भ हो जाता है। यही उसका प्रथम स्वर और भाषा होती है। जन्म के कुछ समय तक शिशु की यह भाषा पूर्णतः एक प्रकार की सहज-क्रिया होती है। जन्म के समय बालक के क्रन्दन का बहुत बड़ा लाभ है। उसके क्रन्दन से उसके फेफड़े फूल जाते हैं और उसकी श्वसन क्रिया आरम्भ हो जाती है। श्वसन क्रिया प्रारम्भ होने से उसके रक्त को ऑक्सीजन मिलने लग जाती है। जन्म के समय वह पहला अवसर होता है, जब बालक अपनी आवाज प्रथम बार सुनता है। जन्म के 24 घण्टे बाद ही शिशु के क्रन्दन के अर्थ बदल जाते हैं। नवजात शिशुओं का क्रन्दन कुछ विशेष अक्षरों से प्रारम्भ होता है। रोते समय शिशु हाथ-पैर चलाता है और कभी हाथ की मुट्ठी खोलता है तो कभी बन्द करता है।

एक अध्ययन (Aldrich, 1945) के अनुसार, शिशुओं के क्रन्दन के कई कारण होते हैं। यह कारण या तो शारीरिक होते हैं या वातावरण सम्बन्धी; परन्तु अक्सर इनके रोने के कारण अज्ञात होते हैं। **एल्डरिच** (1945) ने बच्चों के रोने के अनेक कारण बताये हैं, जैसे—शोरगुल, प्रकाश, उल्टी होना, अधिक गर्मी, स्नान कराने पर रोना, भूख, अज्ञात कारण आदि। एक अध्ययन (M. E. Fries, 1941) में यह देखा गया कि सिजेरियन शिशु अन्य शिशुओं की अपेक्षा बहुत कम रोते हैं। एक अध्ययन (S. Karelitz, et. al., 1964) में यह देखा गया कि गर्भकालीन अवस्था में जिन शिशुओं की माताएँ अधिक औषधियों का उपयोग करती हैं या जन्म के समय जिन शिशुओं को कोई नुकसान हो जाता है, वे शिशु अन्य शिशुओं की अपेक्षा अधिक क्रन्दन करते हैं। **ग्राहम** (F. K. Graham, et. al., 1962, 1963) ने अपने अध्ययनों में यह देखा कि जिन शिशुओं का जन्म सामान्य रूप से होता है, वे जन्म के समय अन्य बच्चों की अपेक्षा बहुत तेज रोते हैं।

(द) नवजात शिशु की संवेदनशीलता (Sensitivities of the Neonate)

नवजात शिशु की संवेदनशीलता का अध्ययन कठिन है; क्योंकि इस प्रकार के अध्ययन अन्तर्दर्शन विधि से किये जाते हैं। अतः यह भी बताना कठिन है कि कौन-सी संवेदनाएँ शिशु में पाई जाती हैं और कितनी मात्रा में पाई जाती हैं। **गेसेल** (Gesell, 1949) के अनुसार, *"जो बच्चे गर्भकालीन अवस्था के पूर्ण होने से पहले ही जन्म ले लेते हैं, वे भी तीव्र उद्दीपकों के प्रति उसी प्रकार अनुक्रिया करते हैं, जिस प्रकार अन्य बालक। शिशुओं में अन्य संवेदनाओं की अपेक्षा स्पर्श-संवेदना के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।"*

(1) दृष्टि (Sight)—जन्म के समय आँख का रेटिना, जिसमें दृष्टि की संवेदना के सेल्स पाये जाते हैं, पूर्ण रूप से परिपक्व नहीं होता है। जन्म के समय फोबिया में शंकु (Cones) बहुत कम स्पष्ट होते हैं। अतः कहा जा सकता है कि जन्म के समय शिशु आंशिक रूप से 'कलर ब्लाइण्ड' होता है। यद्यपि अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि जन्म के सातवें दिन शिशु रंगों के प्रति अनुक्रिया करते हैं। **स्मिथ** (Smith, 1936) का विचार है कि, *"लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ जन्म के सात दिन से नौ दिन में रंग उद्दीपकों के प्रति अनुक्रिया अधिक करती हैं।"* आँख के रेटिना में शंकुओं और दण्डों (Cones & Rods) की संख्या उतनी ही होती है जितनी कि वयस्क व्यक्तियों में। **हरलॉक** (1968) का विचार है कि, *"जन्म के प्रथम दिन शिशु बहुत पास की वस्तु को देख सकता है। पहले सप्ताह के अन्त तक वह पास की वस्तु को देख सकता है, परन्तु एक माह का शिशु कुछ दूर के उद्दीपकों को भी देख सकता है।"*

(2) श्रवण (Hearing)—जन्म के समय यह ज्ञानेन्द्री अन्य ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा सर्वाधिक कम विकसित होती है। जन्म के तुरन्त बाद नवजात शिशु सुनते हैं या नहीं, इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में एक मत नहीं है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि जन्म के दस मिनट में ही बच्चा सुनने लग जाता है, परन्तु अन्य लोगों का विचार है कि जन्म के कुछ दिन बाद तक बालक पूर्णतः बहरा (Deaf) होता है। **प्रैट** (K.C. Pratt, 1954) का विचार है कि, *"नवजात शिशु जन्म के तीसरे दिन से सातवें दिन के मध्य में ध्वनि उद्दीपकों के प्रति अनुक्रिया करने लग जाता है।"* एक अन्य अध्ययन (A. S. Leventhal & L. P. Lipsitt, 1964) के अनुसार, जन्म के 118 घण्टे बाद शिशु ध्वनि स्थानीयकरण करने लग जाते हैं।

(3) स्वाद (Taste)—अन्य ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा यह ज्ञानेन्द्री अत्यधिक विकसित होती है। अध्ययनों से यह देखा गया है कि शिशु मीठी उत्तेजनाओं के प्रति धनात्मक अनुक्रिया करते हैं और नमकीन, खट्टी तथा कड़वी चीजों के प्रति ऋणात्मक अनुक्रिया करते हैं। प्रैट (Pratt, 1954) का विचार है कि स्वाद संवेदनशीलता सीमान्त के सम्बन्ध में शिशुओं में अधिक वैयक्तिक भिन्नताएँ पायी जाती हैं।

Scanned with OKEN Scanner

(4) गन्ध (Smell)—एक अध्ययन (L. P. Lipsitt, et. al., 1963) के अनुसार, गन्ध संवेदनशीलता जन्म के समय काफी विकसित होती है या वह जन्म के कुछ ही दिनों में विकसित हो जाती है। माँ यदि अपने स्तन पर सिरके का अम्ल, अमोनिया, पैट्रोलियम, सन्तरे का तेल आदि लगाकर शिशु को स्तनपान कराये, तो शिशु स्तनपान नहीं करता है। प्रैट (Pratt, 1954) का विचार है कि इस संवेदनशीलता में भी वैयक्तिक भिन्नताएँ पाई जाती हैं।

(5) त्वचा संवेदनशीलता (Skin Sensitivities)—स्पर्श, दबाव, ताप और पीड़ा सम्बन्धी संवेदनशीलता बालक में जन्म के समय पाई जाती है या इसका विकास जन्म के कुछ ही समय में हो जाता है। शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा कुछ अंग, जैसे—होंठ अधिक संवेदनशील होते हैं। ताप उद्दीपकों की अपेक्षा शीत उद्दीपकों के प्रति शिशु अधिक अनुक्रिया करता है। जन्म के प्रथम दो दिन पीड़ा-संवेदना कुछ कमजोर होती है। होंठ, हथेली, पैर, पलक, माथे पर और नाक की झिल्ली में यह संवेदना अधिक मात्रा में पाई जाती है।

(य) नवजात शिशु के संवेग (Emotions of the Neonate)

नवजात शिशुओं के संवेगों के सम्बन्ध में जो अध्ययन हुए हैं, वे कम हैं, परन्तु जो भी अध्ययन हुए हैं, वे विस्तृत अधिक हैं। **वाटसन** (Watson, 1925) के अनुसार, शिशु में जन्म के समय या जन्म के कुछ ही समय बाद तीन संवेग पाए जाते हैं। **वाटसन** का यह भी विचार है कि, यह संवेग कुछ विशिष्ट उद्दीपकों के द्वारा शिशुओं में उत्पन्न किए जा सकते हैं। **वाटसन** के द्वारा बताये हुए तीन प्रमुख संवेग हैं—**भय, क्रोध** और **प्रेम**। **बैकविन** (Bakwin, 1947) का विचार है कि नवजात शिशुओं की संवेगात्मक अनुक्रियाएँ अत्यधिक विकसित होती हैं। उनके अनुसार, जो नवजात शिशु गर्भकालीन अवस्था को पूर्ण किए बिना उत्पन्न हो जाते हैं, उनमें भी समान प्रकार की संवेगात्मक अनुक्रियाएँ पाई जाती हैं।

हरलॉक (1978) का विचार है कि, *"यह आशा करना अतार्किक होगा कि जन्म के समय संवेगात्मक अवस्थाएँ पूर्णतः परिभाषित होती हैं, वैसी ही जैसे विशिष्ट संवेगों की।"* (It would be illogical to expect that emotional states at birth would be so well defined that they could as readily identified as specific emotions.) अनेक आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि नवजात शिशुओं में निश्चित संवेगात्मक प्रतिमान नहीं पाए जाते हैं, बल्कि इनमें संवेगात्मक अनुक्रियाओं के नाम पर केवल दो प्रकार की अनुक्रियाएँ पाई जाती हैं। प्रथम प्रकार की अनुक्रियाएँ सुखात्मक अनुक्रियाएँ (Pleasurable Responses) हैं। ये अनुक्रियाएँ बालक में स्तनपान करते समय दिखाई देती हैं या बालक को अच्छी तरह गोद लेते समय। दूसरे प्रकार की संवेगात्मक अनुक्रियाएँ असुखात्मक अनुक्रियाएँ (Unpleasant Responses) हैं, यह अनुक्रियाएँ शिशु उस समय करता है, जब अचानक उसे गलत तरीके से उठा लिया जाए अथवा इसी प्रकार उसे लिटाया जाए या तेज शोरगुल हो। कुछ मनोवैज्ञानिकों (K. M. Bandham, 1951; R. A. Spitz, 1949) का विचार है कि, सुखात्मक अनुक्रियाओं की अपेक्षा असुखात्मक अनुक्रियाएँ शिशु अधिक स्पष्ट ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। जब माँ शिशु को स्तनपान कराना समय से पहले ही छुड़ा देती है तब उसे स्तनपान के स्थान पर बोतलपान से प्राकृतिक सन्तुष्टि न मिलने के कारण बालक माँ के स्नेह और प्रेम का भी भूखा रह जाता है। इस प्रकार के बालकों में प्रेम संवेग का विकास सामान्य रूप से नहीं होता है। आधुनिक युग में अनेक स्त्रियाँ अपने नवजात शिशुओं को इसलिए स्तनपान नहीं कराती हैं कि उनके स्तनों की आकृति बिगड़ जाएगी, परन्तु यह सत्य नहीं, भ्रामक है। इस दिशा में हुए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि जो माताएँ अपने शिशुओं को जितना ही अधिक स्तनपान कराती हैं, उनके स्तनपान कराने से उनके स्तनों और उनकी योनि (भग) का आकार सुदृढ़ होता है।

जब माताएँ अपने रोते शिशुओं को व्यस्तता के कारण परिवार के अन्य लोगों को चुप कराने के लिए दे देती हैं या बच्चे की देखभाल करने वाली आया को चुप कराने के लिए दे देती हैं तो यह बहुधा शिशु को डरा-धमकाकर चुप कराते हैं, ऐसे में बालक में भय संवेग के अति विकसित होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

कभी-कभी यह भी देखा गया है कि माता की व्यस्तता या अन्य किसी कारणवश नवजात शिशु का लालन-पालन सही ढंग से नहीं होता है। नवजात शिशु यदि रो रहा है तो रोते-रोते स्वयं रो-रो कर चुप हो जाता है। इस प्रकार की अवस्थाएँ बालक में भय, असुरक्षा और नैराश्य की भावनाएँ उत्पन्न करती हैं।

(र) नवजात शिशुओं में अधिगम की क्षमता (Capacity for Learning in Neonate)

कोई भी प्राणी किसी समस्या या क्रिया का अधिगम तब कर सकता है, जब वह उस समस्या के सम्बन्ध में जागरूक हो। किसी समस्या के अधिगम के लिए यह भी आवश्यक है कि अधिगमकर्त्ता के स्नायु इतने विकसित और परिपक्व हों कि वह समस्या का अधिगम कर सकें। नवजात शिशुओं के स्नायु और मस्तिष्क इतने परिपक्व नहीं होते हैं कि वे किसी समस्या का सरल से सरल विधि द्वारा अधिगम कर सकें। नवजात शिशुओं में जागरूकता भी नहीं के बराबर पाई जाती है। कुछ अध्ययनों (D. P. Marquis, 1941; K. C. Pratt, 1954) के द्वारा यह स्पष्ट हुआ है कि यद्यपि नवजात शिशुओं में अनुबन्धन (Conditioning) द्वारा अधिगम

Scanned with OKEN Scanner

बहुत कठिन है, फिर भी स्तनपान सम्बन्धी परिस्थितियों (Feeding Situations) के प्रति नवजात शिशुओं को अधिगम कराया जा सकता है, परन्तु यह अनुबन्धन जन्म के कई दिनों बाद ही स्थापित किया जा सकता है।

(ल) नवजात शिशुओं का व्यक्तित्व (Personality of the Neonate)

नवजात शिशुओं के व्यक्तित्व में अन्तर कुछ ही दिनों में दृष्टिगोचर होने लगता है। हम सभी जानते हैं कि कुछ नवजात शिशु सोने की तरह अच्छे और कीमती भी होते हैं और कुछ माता-पिता के लिए अत्यधिक परेशानी पैदा करने वाले होते हैं। नवजात शिशुओं के व्यक्तित्व में अन्तर वंशानुक्रम और वातावरण-सम्बन्धी कारकों के कारण तो होते ही हैं, साथ ही साथ व्यक्तित्व में अन्तर अपरिपक्व जन्म (Premature Birth), जन्म के समय की परिस्थितियाँ तथा स्वास्थ्य की दशाएँ आदि कारकों के कारण भी होते हैं। **फ्रायड** (Freud, 1936) का विचार है कि नवजात शिशु के लिए जन्म एक दैहिक और मनोवैज्ञानिक आघात (Physiological and Psychological Shock) है। इस आघात के कारण बालक में चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों (H. Raju, 1949; H. A. Carithers, 1951) का विचार है कि इस बात का कोई प्रभाव नहीं है कि जन्म शिशु के लिए आघात और उनमें चिन्ता उत्पन्न करता है तथा जन्म उनके व्यक्तित्व-विकास को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करता है। यह अध्ययनों द्वारा अवश्य सिद्ध हो चुका है कि जो बालक जन्म होते ही माँ से अलग कर दिये जाते हैं और माँ से दूर रखे जाते हैं, उनका विभिन्न परिस्थितियों में समायोजन उतना अच्छा नहीं होता है, जितना कि उन बच्चों का, जो माँ के साथ रहते हैं।

गर्भकालीन अवस्था में माँ की विचारधारा भी बालक के व्यक्तित्व को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती है। कई बार यह देखा गया है कि बच्चा जब इच्छित यौन का नहीं होता है, तो माँ अपने वर्तमान अनिच्छित बालक का अधिक अच्छी तरह लालन-पालन नहीं कर पाती है। एक अध्ययन में यह देखा गया कि, जो सिजेरियन बच्चे होते हैं, वे जन्म के बाद स्वभाव से चुप रहने वाले होते हैं, परन्तु जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में उनका समायोजन बहुत अच्छा होता है। कुछ अध्ययनों में यह भी जानने का प्रयास किया गया कि जन्म के महीने का बालक के व्यक्तित्व और व्यवहार से क्या सम्बन्ध है? एक अध्ययन (Pintner & Forlano, 1934) में यह देखा गया कि अधिकांश प्रतिभाशाली और प्रसिद्ध व्यक्ति अक्टूबर माह में जन्मे हैं तथा वसन्त में ऐसे बहुत कम व्यक्तियों का जन्म हुआ है। एक अन्य अध्ययन (Pile, 1951; Sumner, 1953) में यह देखा गया कि जो बालक वसन्त, गर्मी या शरद् ऋतु में पैदा होते हैं, वे जाड़े में पैदा होने वाले बच्चों की अपेक्षा अधिक सामाजिक होते हैं। एक अध्ययन में **बोलैण्ड** (Boland, 1951) ने देखा कि जो शिशु उपकरणों की सहायता से उत्पन्न होते हैं, उनमें अधिक संवेदनशीलता पाई जाती है। वे बेचैनी, भाषा-सम्बन्धी दोष तथा ध्यान एकाग्र करने में कठिनाई अनुभव करने वाले होते हैं।

प्रश्न 8. बाल-अपराध से आप क्या समझते हो? बाल-अपराध के क्या कारण हैं? बाल-अपराध की रोकथाम आप किस प्रकार करेंगे?

What do you think of Juvenile Delinquency? What are the Reasons of Juvenile Delinquency? How will you prevent Child Crime?

उत्तर—

बाल-अपराध
(Juvenile Delinquency)

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, कोई भी जन्म से अपराधी नहीं होता वरन् जन्म के पश्चात् ही अपराधी प्रवृत्ति का हो जाता है। जो व्यक्ति प्रौढ़ावस्था में प्रवेश कर चुके होते हैं और वे सामाजिक नियमों या कानूनों के विरुद्ध कार्य करते हैं उसे अपराध माना जाता है और यदि इस कार्य को अपरिपक्व बालक के द्वारा किया जाता है तो उसे बाल-अपराध (Juvenile Delinquency) की संज्ञा दी जाती है।

बाल-अपराध की परिभाषाएँ (Definitions of Juvenile Delinquency)

(1) बर्ट—*"उस बालक को अपराधी कहते हैं, जिसकी समाज-विरोधी प्रवृत्तियाँ इतनी गम्भीर हो जाती हैं कि उसके प्रति सरकारी कार्यवाही आवश्यक हो जाती है।"*

(2) हीली—*"वह बालक जो समाज द्वारा स्वीकृत आचरण का पालन नहीं करता, अपराधी कहलाता है।"*

(3) न्यूमेयर के अनुसार—*"बाल-अपराध का अर्थ समाज विरोधी व्यवहार का कोई प्रकार है, जोकि व्यक्तिगत तथा सामाजिक विघटन उत्पन्न करता है।"*

बाल-अपराध के प्रकार (Types of Juvenile Delinquency)

(1) माता-पिता के नियन्त्रण को न मानना।

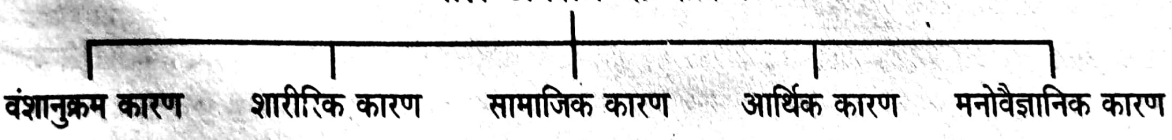
(2) धूम्रपान करना।

Scanned with OKEN Scanner

(3) लड़ना-झगड़ना।
(4) चोरी करना।
(5) झूठ बोलना।
(6) गन्दी तथा भद्दी भाषा का प्रयोग करना।
(7) बुरी संगति में रहना।
(8) उद्देश्यविहीन घूमना।
(9) ऐसे कार्य करना जिससे दूसरों को पीड़ा पहुँचने का भय हो।
(10) यौन-अपराध।
(11) कानून को भंग करना।
(12) बिना पूछे किसी के घर या उसकी गाड़ी में प्रवेश करना।
(13) पलायनशीलता।
(14) स्कूल की वस्तुओं को बर्बाद करना।
(15) हमेशा झूठ बोलना।
(16) दीवारों पर गन्दे शब्दों का प्रयोग करना।

बाल-अपराध के कारण
(Reasons of Juvenile Delinquency)

बाल-अपराध के प्रमुख कारणों को निम्नलिखित पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—



[I] वंशानुक्रम कारण (Inheritance Reasons)

सीजर लोम्ब्रोसो तथा गैलोफैलो फैरी इत्यादि मनोवैज्ञानिकों का मत है कि अपराध का कारण वंशानुक्रम है, क्योंकि जो बच्चे अपराधी होते हैं, उनके कुछ विशेष प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक लक्षण होते हैं।

[II] शारीरिक कारण (Physical Reasons)

शारीरिक कारणों में शारीरिक दोष तथा हीन स्वास्थ्य अपराधी प्रवृत्ति को प्रभावित करते हैं। ऐसे बच्चों के साथ समाज के अन्य व्यक्तियों का व्यवहार ठीक नहीं होता। ऐसे बच्चों को चिढ़ाना, हीन दृष्टि से देखना जिससे उसे समाज के प्रति घृणा हो जाती है और वह बदले की भावना से समाज में लोगों के प्रति अपराध करना आरम्भ कर देते हैं।

[III] सामाजिक कारण (Social Reasons)

बाल-अपराध के सामाजिक कारणों को दो भागों में विभाजित किया गया है—

(1) पारिवारिक कारण (Family Reasons)

(i) **टूटा परिवार**—बालकों को अपराधी बनाने में टूटे परिवार का भी मुख्य हाथ होता है। जिस परिवार में पति-पत्नी के बीच आपस में अलगाव, तलाक, मतभेद इत्यादि रहता है। प्रायः ऐसे परिवारों का संतुलन बिगड़ जाता है, जिसे एक-साथ लेकर चलना कठिन होता है। ऐसे परिवारों के बच्चे तरह-तरह के अपराध करने लगते हैं।

(ii) **अपराधी भाई-बहनों का प्रभाव**—यदि किसी परिवार में उसके भाई-बहन पहले से ही अपराधी प्रवृत्ति के होते हैं, गलत कार्य करते हैं तो उसका प्रभाव उसके भाई-बहनों पर भी पड़ता है, उसी तरह से वह भी अपराधी प्रवृत्ति के होकर गलत कार्य करना शुरू कर देते हैं।

(iii) **अशिक्षित माता-पिता**—जिनके माता-पिता अशिक्षित होते हैं, वे अपने बालकों का ठीक तरह से निर्देशन नहीं कर पाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप बच्चे गलत व्यवहार करना शुरू कर देते हैं।

(iv) **अनैतिक परिवार**—किसी भी परिवार में यदि माता-पिता या उस परिवार के कोई भी सदस्य अनैतिक कार्य करते हैं तो उसके घर को 'अनैतिक परिवार' कहा जाता है। इस परिवार के बच्चे धीरे-धीरे अनैतिक कार्य करना प्रारम्भ करते हैं। किशोर लड़के [illegible] अपराधी प्रवृत्ति के हो जाते हैं।

Scanned with OKEN Scanner

(v) **माता-पिता द्वारा तिरस्कार**—बालकों पर माता-पिता के व्यवहार का अधिक प्रभाव पड़ता है। जब बालक को अपने माता-पिता द्वारा प्यार नहीं मिलता, बल्कि उसे उसके कार्य पर दण्ड दिया जाता है तो ऐसे समय उनमें विद्रोह की भावना जागृत हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप वह अपराधी प्रवृत्ति के हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त सौतेले माँ-बाप के प्यार से वंचित रह जाना, माता-पिता की मृत्यु हो जाना इत्यादि से भी बालक अपराधी बन जाता है।

(vi) **दूषित नियन्त्रण**—जिन घरों में बालकों पर अधिक कड़ा नियन्त्रण होता है या नियन्त्रण में कमी होती है, उन घरों के बालक बहुत जल्दी ही गलत कार्य करने लग जाते हैं अर्थात् अपराधी प्रवृत्ति की ओर उनका अधिक झुकाव हो जाता है।

(2) परिवार के कुछ बाहरी कारण (Some External Reasons for Family)

(i) **बुरा पड़ोस**—यदि शराबी, धोखेबाज, गुण्डे प्रवृत्ति वाले, चोर, बदमाश बालक के पड़ोस में रहते हैं तो उसका प्रभाव बालकों पर पड़ सकता है।

(ii) **उचित मनोरंजन सम्बन्धी साधनों की कमी**—जहाँ उचित मनोरंजन सम्बन्धी साधनों का अभाव रहता है उन स्थानों पर रहने वाले बालकों में बुरी आदतों; जैसे—जुआ खेलना, ताश खेलना, मारने-पीटने की आदत तथा यौन-अपराध की प्रवृत्ति बढ़ जाती है।

(iii) **होटल तथा क्लब**—होटल तथा क्लब का वातावरण ठीक न होने से कभी-कभी बालक अधिक अपराधी प्रवृत्ति के हो जाते हैं, क्योंकि इन होटलों एवं क्लबों के मालिक भी इसमें जुड़ जाते हैं और बालकों से गन्दे कार्य कराने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, जो समाज के विरुद्ध होता है।

(iv) **विद्यालय की परिस्थितियाँ**—यदि बालकों में विद्यालय के प्रति रुचि नहीं होती तो बौद्धिक कुशलता में कमी या पढ़ाई की पर्याप्त सुविधाएँ न होने पर उसमें अपराध की भावना जागृत होने लगती है। बालक विद्यालय से भागकर गलत संगति में पड़ जाता है। कभी-कभी विद्यालय के समीप शराब, सिनेमाघर, जुआ खेलने का अड्डा, नशीली दवाओं की दुकान इत्यादि होते हैं तो इससे बालक शीघ्र इसका सेवन करके अपराध करने लग जाते हैं।

(v) **बुरे प्रौढ़ व्यक्तियों का साथ**—यदि प्रौढ़ व्यक्ति बुरे होते हैं तो कभी-कभी इनके सम्पर्क में आने के कारण बालक पर भी बुरा असर पड़ सकता है। इस अवस्था के व्यक्तियों के साथ रहने पर बच्चे आरामदायक व विलासिता की बीजों का प्रयोग करने के लिए तत्पर रहते हैं, इसकी पूर्ति न होने पर अपराध की ओर बढ़ जाते हैं।

(vi) **विज्ञापन एवं प्रचार**—आज के आधुनिक युग में अनेक प्रकार के फैशन सम्बन्धी वस्तुओं का विज्ञापन के जरिये प्रचार होता है, अर्द्धनग्न चित्र, अश्लील पोस्टर वाक्यों का प्रभाव पड़ता है, जिससे वह बुरे कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं।

(vii) **संगी-साथी**—बुरे साथी अर्थात् बुरी संगति मिलने से बालक अपराध की ओर बढ़ता है। बालकों के व्यवहार पर उसके साथियों का काफी प्रभाव पड़ता है। इसमें सामूहिक रूप से एकत्र होकर अनैतिक कार्य करने लगते हैं, जो समाज के विरुद्ध होता है।

(viii) **सामाजिक प्रथाएँ**—समाज में प्रचलित प्रथाएँ भी बाल-अपराध को जन्म देती हैं। विधवा, बाल-विवाह, पुनर्विवाह निषेध, दहेज प्रथा, ऐसी प्रथाएँ प्रचलित हैं, जिससे अपराधी प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं।

[IV] आर्थिक कारण (Economical Reasons)

(1) **निर्धनता**—बाल-अपराध को जन्म देने वाली अनेक परिस्थितियाँ हैं, जिससे बालक अपराध करने लग जाता है। उसमें प्रमुख कारण निर्धनता है। इससे वह अपनी आवश्यक आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर पाता। इसके फलस्वरूप चोरी करना, झूठ बोलना इत्यादि सीख लेता है।

(2) **बेकारी**—बेकारी भी निर्धनता के समान ऐसा आर्थिक कारण है, जो बाल-अपराध को जन्म देती है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाता है अर्थात् किशोरावस्था में प्रवेश करता है, वह चाहता है कि उसके पास स्वयं जीविकोपार्जन करने का साधन हो, लेकिन ऐसी स्थिति में वह बेकार रहता है तो वह अपनी भूख तथा आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए समाज विरोधी कार्य करना प्रारम्भ कर देता है; जैसे—जेब काटना, चोरी करना इत्यादि। इसके अतिरिक्त युवावस्था में पहुँचते-पहुँचते माँ-बाप बच्चे को ताने देने लगते हैं, कोसते हैं, जिससे परेशान होकर वह अपराधी प्रवृत्ति का हो जाता है।

(3) **अनुपयुक्त व्यवसाय**—अनुपयुक्त व्यवसाय में होने से भी बालक अपराध की ओर अग्रसर हो जाता है, क्योंकि उसकी योग्यतानुसार व्यवसाय नहीं मिल पाता। अधिक परिश्रम करता है, जिससे वह चिड़चिड़ा स्वभाव का हो जाता है और समाज विरोधी कार्य करना शुरू कर देता है।

Scanned with OKEN Scanner

[V] मनोवैज्ञानिक कारण (Psychological Reasons)

यदि बालक का मानसिक स्वास्थ्य ठीक न हो अथवा उनकी इच्छाओं का दमन किया जाए तो उनके मन में हीन भावना पनपने लगती है और वह जल्दी ही अपराधी हो जाते हैं। ऐसे बालक से घर में कोई प्रेम नहीं करता, सभी तिरस्कृत करते हैं तो वह हिंसात्मक कार्य प्रारम्भ कर देता है।

बाल-अपराध की रोकथाम
(Juvenile Delinquency Prevention)

बढ़ती हुई अपराधी प्रवृत्ति को रोकने के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन साधनों का प्रयोग आवश्यक है—

(1) माता-पिता द्वारा उपचार,
(2) सरकार द्वारा उपचार,
(3) मानसिक चिकित्सकों द्वारा उपचार।

(1) माता-पिता द्वारा उपचार (Treatment by Parents)

बेकर फाउन्डेशन बोस्टन ने माता-पिता द्वारा बालकों के सुधार को निम्न उद्देश्य दिए हैं—

- अपने बच्चे के प्रति माता-पिता का व्यवहार कड़ा न हो।
- बालकों की रुचि के अनुकूल सहानुभूति प्रदान करना।
- कोसना बन्द करना।
- निर्दयता के व्यवहार में कमी करना।
- बालकों के आचरण को अपने व्यवहार से अनुकूल करना।
- अच्छी तरह निरीक्षण करना।
- आपसी गलतफहमियों को दूर करना।
- बालक के अनुकूल वातावरण बनाना।
- बालक पर बुरा प्रभाव डालने वाले व्यक्तियों को अलग करना।
- माता-पिता का पूर्ण उत्तरदायित्व निभाना इत्यादि।

(2) सरकार द्वारा उपचार (Treatment by Government)

- **किशोर न्यायालय**—सर्वप्रथम सन् 1899 ई० में किशोर न्यायालयों की स्थापना हुई। इसमें 13 वर्ष के अपराधियों का न्याय होता था, बाद में इसे बढ़ाकर 21 वर्ष की गई। यह न्यायालय भारत में दिल्ली तथा मुम्बई के अतिरिक्त बहुत-से जिलों में स्थापित हैं।
- इस न्यायालय में स्त्रियाँ एवं ऐसे न्यायाधीश होते हैं, जो मनोवैज्ञानिक ढंग से बच्चों को अपराध से रोकने का प्रयास करते हैं।
- **प्रोबेशन**—लगभग 40-50 वर्ष पहले से इंग्लैण्ड तथा अमेरिका जैसे देशों में यह प्रभावी रूप से चली आ रही है। उत्तर प्रदेश (तत्कालीन यूनाइटेड प्रोविन्स) में सन् 1938 में **फर्स्ट ऑफेन्डर्स प्रोबेशन एक्ट** पास हुआ। 18 वर्ष से कम आयु के अपराधी को दण्ड न देकर प्रोबेशन ऑफिसर के पास भेजा जाता है, जो अपराधी को अपने संरक्षण में रखते हुए उनके माता-पिता के पास रखता है। इसमें वह अपराधी को पूर्ण रूप से सुधारने का प्रयास करता है।
- **सुधारगृह या सुधार विद्यालय**—यह दो प्रकार के होते हैं—किशोर सुधारगृह और वयस्क सुधारगृह। इसमें तरह-तरह के उद्योग सिखाये जाते हैं। किशोर सुधारगृह में बालकों को तथा बड़ों को वयस्क सुधारगृह में रखकर कार्य सिखाया जाता है। यह गृह एक औद्योगिक स्कूल के नाम से जाना जाता है। इसमें नये-नये कार्य सिखाये जाते हैं। अपराध करना स्वयं छूट जाता है।
- **बोर्स्टल विद्यालय**—सन् 1902 में सर्वप्रथम **रगेल्स ब्राइस** ने इंग्लैण्ड में यह बोर्स्टल विद्यालय बोर्स्टल नामक स्थान में एक जेलखाना खोला, जो गैर-सरकारी था। इसका मुख्य उद्देश्य अपराधियों को सुधारना था। इसमें 16 से 21 वर्ष के अपराधी रखे जाते थे। इन विद्यालयों में अपराधी स्वयं अपराध करना छोड़ देता था। यदि फिर भी नहीं छूटता था तो ऐसे बालकों को बन्दीगृह भेजा जाता था।

इस समय बोर्स्टल विद्यालय चेन्नई, मैसूर, मुम्बई और मध्य प्रदेश में स्थापित हैं, जिसमें तेजी से अपराध को रोकने का प्रयास किया जा रहा है।

Scanned with OKEN Scanner

(3) मानसिक चिकित्सकों द्वारा उपचार (Treatment by Psychiatric Physicians)

इसमें बालकों के मनोअभिनय, क्रीड़ा द्वारा शिक्षा देना, सामूहिक बालकों में एकत्र करके अपराध को रोकने का प्रयास करना, उनकी मनोवृत्ति की पूर्ण जाँच करना, व्यावसायिक चिकित्सा इत्यादि के आधार पर उपचार किया जाता है, जिससे खेल ड्रामा का अभिनय करके बच्चे अपने आपको समझने लगते हैं। धीरे-धीरे उनका अपराध करना छूट जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त रुचिकर ढंग से शिक्षा देकर बाल-अपराध को रोकने का प्रयास किया जा सकता है।

प्रश्न 9. खेल क्या है? खेल तथा कार्य में क्या अन्तर है? खेल की परिभाषा तथा विशेषताएँ बताइये।
What is Game? What is difference between Game and Work? Describe the Definition and Features of the Game?

उत्तर—

खेल
(Game)

खेल एक सार्वभौमिक क्रिया है। जब से व्यक्ति के अस्तित्व के बारे में इतिहास गवाही देता है, तब से उसकी खेल की प्रवृत्तियों की जानकारी भी देता है। बालक युगों से खेल खेलते आ रहे हैं। सभी देश, समाज एवं जाति के बालक अपनी रुचि एवं सामर्थ्य के अनुसार खेलते हैं। खेल वस्तुतः मनुष्य को सुख प्रदान करने वाली क्रिया है, जो उसके मानसिक-द्वन्द्व को मिटाती है तथा उसके जीवन को प्रेरणा देने का कार्य करती है। खेल पूर्ण रूप से अपने लिए खेली जाने वाली क्रिया है, जिसके पीछे कोई लक्ष्य या कोई उद्देश्य निहित नहीं होता।

बालक खेल बार-बार खेलते हैं और हर बार उससे आनन्द प्राप्त करते हैं, जबकि कार्य के रूप में कोई भी क्रिया बार-बार करने पर थकान और ऊब बालक को त्रस्त कर देती है। एक ही क्रिया खेल और कार्य दोनों हो सकती है, यदि उसे उद्देश्य के साथ जोड़ दिया जाए। वस्तुतः खेल लक्ष्य के साथ-साथ परिणाम से भी नहीं जुड़ा होता, जो उसे क्रिया में स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

खेल एवं कार्य में अन्तर (Difference between Game and Work)

(1) खेल एक लक्ष्यविहीन क्रिया है, जिसका निहित तत्व आनन्द प्रदान करता है, जबकि कार्य लक्ष्य की ओर प्रेरित क्रिया है।
(2) खेल बालक को नयी स्फूर्ति प्रदान करते हैं, जबकि कार्य शारीरिक एवं मानसिक थकान प्रदान करते हैं।
(3) खेल में समय की तथा कार्य पद्धति की परतन्त्रता नहीं होती, बालक स्वतन्त्र होता है। अपने बनाये नियम, अपनी पद्धति से क्रिया करता है, जबकि खेल के अतिरिक्त कार्य में अपने बड़ों के बनाये नियम के अतिरिक्त समय की सीमितता की बाधा होती है।
(4) खेल में परिणाम गौण होता है, जबकि कार्य में परिणाम प्राथमिक होता है। कार्य की सफलता-असफलता परिणाम पर निर्भर करती है, जबकि खेल की सफलता-असफलता का प्रश्न उससे मिले आनन्द से जुड़ा हुआ है।
(5) कार्य अधिक बार करने से नीरसता प्रदान करते हैं, जबकि खेल बार-बार खेलने से और अधिक आनन्द देते हैं तथा सरसता प्रदान करते हैं।

बालक के विकास में खेल का बहुत अधिक महत्त्व है। खेल के द्वारा केवल शारीरिक विकास तथा वृद्धि ही प्रभावित नहीं होती है, वरन् जीवन के समस्त पहलुओं के विकास पर खेल अपना प्रभाव डालते हैं। खेल निरुद्देश्य एवं निरर्थक माने जाते हैं, परन्तु वास्तव में प्रारम्भिक जीवन में खेल को बालक के विकास की रीढ़ माना जा सकता है। केवल बालकों के लिए ही नहीं वरन् हर अवस्था में खेल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

खेल की परिभाषाएँ तथा विशेषताएँ (Definitions and Features of the Game)

गुलिक ने कहा है, *"खेल वह क्रिया है, जिसे हम अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं।"*

वेलेन्टाइन के अनुसार, *"जो क्रिया खेल के लिए की जाती है, वही खेल क्रिया कहलाती है।"*

खेल आनन्ददायक होता है। खेल का उद्देश्य खेल ही होता है। खेल में किसी प्रकार की बाध्यता नहीं होती है। बालक लम्बे समय तक खेलकर शारीरिक मेहनत कर लेता है, परन्तु फिर भी उससे ऊबता नहीं है तथा थकान का अनुभव नहीं करता है, क्योंकि खेल स्वेच्छा से खेला जाता है तथा उसमें कोई बाह्य दबाव नहीं होता है।

खेल के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है। इस प्रकार जो भी कार्य आनन्द प्राप्त करता है, स्वतन्त्रता से किया जाता है एवं स्वेच्छा से किया जाता है, वह खेल कहलाता है।

Scanned with OKEN Scanner

प्रश्न 10. बालक के जीवन में खेलों का क्या महत्त्व है? संक्षेप में वर्णन कीजिए। खेलों पर आधारित शिक्षण विधियाँ कौन-कौन सी हैं?

What is Importance of Games in the Life of Child? Briefly describe. What are the Teaching Methods based on Games?

उत्तर—

बालक के जीवन में खेल का महत्त्व
(Importance of Games in the Life of Child)

बालक के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उपयुक्त विकास के लिए खेल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

(1) क्रियात्मक विकास—खेल के माध्यम से बालकों को विभिन्न प्रकार की क्रियाओं तथा विभिन्न क्रियात्मक कौशलों के अभ्यास का अवसर प्राप्त होता है। क्रियात्मक विकास के लिए उपयुक्त समय पर अभ्यास आवश्यक है तथा खेल उस अभ्यास का अवसर प्रदान करते हैं।

(2) शारीरिक विकास—खेल के द्वारा माँसपेशियों का व्यायाम होता है, भोजन के पचने में सहायता मिलती है, भूख अच्छी लगती है। इस प्रकार बालक के शारीरिक विकास के लिए खेल महत्त्वपूर्ण है। छोटा शिशु यद्यपि चल नहीं सकता है, फिर भी वह लेटकर अथवा हाथ-पाँव चलाकर खेलता रहता है, जिससे उसके शरीर का व्यायाम होता है। खेलों में रक्त संचार बढ़ता है। उत्सर्जी पदार्थों के शरीर से निकलने में सहायता मिलती है। वस्तुतः खेल व्यायाम का कार्य करता है, जो शारीरिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(3) संगी-साथियों से समायोजन—अपने हमउम्र अनेक बालकों के साथ खेलते समय उसे विभिन्न बालकों के साथ समायोजन सीखने के अवसर प्राप्त होते हैं। उसमें सामाजिकता का विकास होता है। अनेक बालकों के सम्पर्क में आने पर एक-दूसरे के विचार तथा भावनाओं का आदान-प्रदान एवं बालक में नेतृत्व, आज्ञापालन, सामूहिकता आदि गुणों का विकास होता है।

(4) संवेगों का रेचन—**फ्रायड** तथा **एरिकसन** के अनुसार, खेल के द्वारा विगत संवेगों के दुःखद प्रभाव से मुक्ति मिलती है तथा विगत निराशाओं के लिए खेल के द्वारा काल्पनिक मुक्ति मिलती है। जब बालक इन तनावों से मुक्त हो जाता है तो वह वर्तमान जीवन की समस्याओं से अधिक क्षमतापूर्वक मुकाबला करने के योग्य बनता है। इसी आधार पर अनेक मनोवैज्ञानिकों तथा मनोचिकित्सकों ने बालकों की गम्भीर समस्याओं के निराकरण के लिए खेल चिकित्सा का सुझाव दिया है।

(5) अन्वेषक प्रवृत्ति का विकास—**डेनियल बर्लीन** के अनुसार, खेल के माध्यम से व्यक्ति को अपनी जन्मजात अन्वेषक प्रवृत्ति को सुखद परिस्थिति में सन्तुष्ट करने का अवसर मिलता है। इस प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति में जिज्ञासा होती है तथा कई अभिनव-अनुभव अथवा वस्तु की जानकारी प्राप्त करने की इच्छा होती है। खेल के माध्यम से अन्वेषक व्यवहार विकास का अवसर मिलता है।

(6) खेलों का शैक्षिक महत्त्व—खेल के माध्यम से शिक्षा का महत्त्व अनेकों शिक्षाविदों ने स्वीकारा है। इनमें **फ्रोबेल, मैडम** मॉन्टेसरी के नाम अग्रणी हैं। वस्तुतः खेल शिक्षा को सरस, रुचिकर एवं आसान बनाते हैं। खेलों के द्वारा बालक अपने वातावरण की वस्तुओं, स्थितियों एवं सूचनाओं को आसानी से समझ एवं ग्रहण कर लेता है। खेल द्वारा शिक्षण प्रणाली को भी अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता है। कहानी, कविता के रूप में कठिन पाठ भी आसान बनाकर बालक को कंठस्थ कराये जा सकते हैं। खेल शैक्षिक रचनात्मक एवं सृजनात्मक क्रियाओं के विकास में भी काफी सहायक हैं।

(7) स्वयं का विकास—खेल का मैदान बालक को उसकी व्यक्तिगत मान्यता प्रदान करता है। वहाँ बालक अपनी क्षमताओं को खुलकर प्रकट कर पाता है तथा उनका स्तर स्वयं दूसरों से तुलना कर सुधारने का प्रयत्न करता है। व्यक्ति के रूप में अपनी रुचियाँ समझना एवं प्रकट करना सीखता है। स्वयं के बारे में उसकी अपनी धारणा भी खेलों के माध्यम से स्पष्ट होती है।

(8) भाषा का विकास—आरम्भ से ही बालक सबसे अधिक भाषा का प्रयोग अपने मित्र समूह में करता है। वस्तुतः वहाँ उसे भाषा की सर्वाधिक आवश्यकता पड़ती है। बालक के शब्द-कोष में नित्य नये शब्द संगी-साथियों के शब्द-कोष से आकर जुड़ते हैं। नये शब्दों का प्रयोग भी बालक मित्र समूह में ही आजमाता है, क्योंकि वहाँ उन्हें कोई सही करने वाला अथवा टोकने वाला नहीं होता।

(9) भविष्य की भूमिका का अभ्यास—खेल के माध्यम से बालक अपनी भविष्य में अपनाई जाने वाली भूमिका का अभ्यास भी करते हैं। स्वयं अपने लिए तय की गई भूमिकाओं की तुलना खेल ही खेल में अन्य बालकों द्वारा अपनाई गई भूमिकाओं से करते हैं तथा इस प्रकार उन्हें अनेक विकल्प प्राप्त हो जाते हैं। इन विकल्पों में से उचित भूमिका चुनाव करने में खेल अत्यन्त सहायक होते हैं।

(10) संज्ञानात्मक विकास में सहायक—**जीन पियाजे** के अनुसार, खेलों के माध्यम से बालकों के संज्ञानात्मक विकास में सहायता मिलती है। खेल के द्वारा बालक अपनी क्षमताओं तथा अर्जित कौशलों के स्तर की जाँच तनावरहित परिस्थिति में करते हैं। **पियाजे** के अनुसार, संज्ञानात्मक संरचना जो बालक ने सीखी है, उसका उपयोग तथा अभ्यास आवश्यक है। खेल उसे अभ्यास तथा उपयोग का अवसर प्रदान करते हैं।

Scanned with OKEN Scanner

(11) नैतिक विकास में खेलों का योगदान—खेल में बालक खेल के नियमों पर चलता है, तभी उसे खेल-समूह में स्थान तथा मान्यता मिल पाती है। यहीं से वह समाज द्वारा नैतिक गुणों से परिचित होता है तथा उन्हें स्वीकार करना सीखता है। निष्पक्षता, सच्चाई, आत्मसंयम, बड़ों का सम्मान करना, छोटों की भूलों को भूल जाना, अपनी हार मुस्कराकर स्वीकार कर लेना—यह सभी नैतिक मूल्य बालक खेल समूह में ही सीखता है। समूह नैतिक मूल्य न मानने पर बालक को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसका अस्तित्व इनके बिना असंयत है। खेल के मैदान में वही बालक सर्वाधिक लोकप्रियता पाता है, जो नैतिक मूल्यों को स्वीकार कर व्यवहार में लाता है तथा प्रत्येक बालक समूह द्वारा स्वीकृत होने की लालसा रखता है। अतः स्वतः ही नैतिक मूल्यों को अपना लेता है।

(12) विभिन्न समायोजनों में सहायता—खेल बालक को विभिन्न शारीरिक, क्रियात्मक, संवेगात्मक, सामाजिक गुण प्रदान कर मानसिक योग्यताएँ प्रदान करके भाषा के विकास में सहयोग कर उसके जीवन में आने वाले विभिन्न समायोजन को आसानी से स्थापित करने में सहायता देते हैं। निर्णय लेना, समस्या का समाधान करना बालक खेल के मैदान में सीख लेता है। परिवार में, स्कूल में तथा अन्य सामाजिक क्षेत्रों में बालक के सामाजिक, नैतिक गुण उसका शारीरिक सौष्ठव उसका समायोजन सरल कर देता है।

(13) खेल अनुभव प्रदान करते हैं—खेल के दौरान बालक अनेकों ऐसे अनुभव करता है, जो उसे घर, स्कूल, किताबें कभी नहीं दे सकतीं। वह अपना वातावरण स्वयं अन्वेषित करता है। साथियों, अभिभावकों तथा अन्य परिचितों के बारे में धारणा स्थापित करता है। पशु-पक्षियों, जानवरों के जीवन के बारे में जानकारी करता है। प्रकृति को करीब से देखकर उसके बारे में ज्ञान बढ़ाता है। खेल के अनुभव उसके मौलिक अनुभव होते हैं, जो उस पर बड़ों द्वारा प्रत्यारोपित नहीं होते। ये अनुभव उसके सीखने की प्रवृत्ति को बढ़ाते हैं तथा बौद्धिक विकास के क्षेत्र में भी सहयोग करते हैं।

(14) रचनात्मक प्रवृत्तियों का विकास—खेल बालकों में रचनात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न एवं विकसित करते हैं। खेलों में नयापन लाने की प्रकृति बालक की अवस्था बदलने के साथ-साथ उत्पन्न होती है। प्रयोगात्मक अनुभव बालक को सदैव अधिक सन्तुष्टि प्रदान करते हैं। यही प्रयोगात्मक अनुभव बालक को रचनात्मक प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित करते हैं।

खेल पर आधारित शिक्षण विधियाँ
(Teaching Methods based on Games)

खेल का महत्त्व स्वीकार करने के पश्चात् विद्वानों ने खेलों को अनेक शिक्षण विधियों का आधार बनाया है। इन शिक्षण विधियों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, वैयक्तिक, शारीरिक व मानसिक क्षमताओं का ध्यान रखा जाता है। खेलों पर आधारित विधियाँ निम्न प्रकार हैं—

(1) प्रोजेक्ट प्रणाली—इस प्रणाली में कोई एक योजना ले ली जाती है। हर बालक अपनी क्षमता के अनुसार एक योजना का कार्य लेता है। इस पद्धति में बालक की वैयक्तिक तथा सामूहिक, दोनों प्रकार की उन्नति होती है। खेल-खेल में ही वे जीवन की समस्याओं को हल करने का प्रशिक्षण प्राप्त कर लेते हैं।

(2) डाल्टन योजना—इस योजना में बालकों को उसकी क्षमता के अनुसार कार्य बाँट दिया जाता है। बालक सामूहिक रूप में कार्य करते हैं।

(3) मांटेसरी प्रणाली—मांटेसरी प्रणाली में छोटे-छोटे बालकों को खेल द्वारा शिक्षा दी जाती है। छोटे बच्चे खेल में अधिक रुचि लेते हैं। अनेक प्रकार की रंग-बिरंगी सामग्रियों के द्वारा बच्चे लिखना, पढ़ना, गिनती तथा सामान्य-ज्ञान प्राप्त करते हैं। समस्त कार्य खेल द्वारा ही किया जाता है।

इसके अतिरिक्त किण्डरगार्टन, बुनियादी शिक्षा, डैकरोली योजना और बिनेटिका योजना भी खेल पर ही आधारित हैं। खेल का शिक्षा में महत्त्व इसी बात से प्रकट हो जाता है कि इसको आधार मानकर शिक्षा की योजनाओं का विकास किया गया है। साथ ही शिक्षा में सर्वांगीण विकास के लक्ष्य को पूरा करने के लिए खेलों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया है। **फ्रोबेल** के अनुसार—*"विद्यालय ऐसा हो जहाँ पर बालक उसी प्रकार हँसता हुआ जाए, जैसे वह खेल के मैदान में जाता है।"*

प्रश्न 11. शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में खेलों पर प्रकाश डालिये। खेल सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
Put light on Games in Infancy and Childhood. Describe Game related Principles.

उत्तर—

शैशवावस्था में खेल
(Games in Infancy)

खेल, बालक के जीवन का आवश्यक अंग है। बालक का अधिकांश समय खेल में ही बीतता है। बालक जब एक हाथ से दूसरे हाथ में किसी वस्तु को रखता है या किसी वस्तु को फेंकता है तो वह उसके लिए खेल ही है। बालक खेल को इसलिए पसन्द

Scanned with OKEN Scanner

करता है कि वे उसके लिए सरल न होकर कठिन होते हैं। शैशवावस्था में सरल प्रकार के खिलौने बच्चों के लिए अच्छे रहते हैं। नरम गुड़ियाँ, ऊनी खिलौने जिसमें पशुओं की आकृति हो, बालक पसन्द करते हैं। दो वर्ष की अवस्था में बालक नकल करने लगता है। जैसा माँ-बाप तथा भाई-बहन करते हैं, वैसी ही वह नकल करने का प्रयत्न करता है।

शैशवावस्था में बच्चे अपने ही स्तर पर अपने-आप खेलना पसन्द करते हैं। बच्चे को अभिव्यक्ति के अधिकाधिक अवसर दिये जाने चाहिए। **सूसन गोल्ड ब्रग** एवं **माइकेल लेविस** ने यौन भिन्नता के कारण माता तथा खिलौने के प्रति बालकों के व्यवहार का अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि लड़कियाँ संकट पड़ने पर लड़कों की अपेक्षा माता को सहायता के लिए अधिक पुकारती हैं।

बाल्यावस्था में खेल
(Games in Childhood)

शैशवावस्था में बालक के खेल घर तक सीमित होते हैं, परन्तु बाल्यावस्था में उसके खेल का क्षेत्र घर से बाहर हो जाता है। चोर-सिपाही, आँख-मिचौनी, कोड़-जमाल शाही, खो-खो आदि समूह खेलों की ओर बालक की रुचि विकसित होती देखी गयी है। इस अवस्था में क्रियात्मक खेलों में बालक अधिक भाग लेता है। चित्रांकन, अभिनय तथा दिवास्वप्न में खोया रहता है, भावी जीवन की तैयारी भी वह करता है। वह कभी डॉक्टर बनता है, कभी इंजीनियर, कभी नेता तो कभी अभिनेता बनता है। स्वतन्त्र अभिव्यक्ति वाले खेलों से बालक के मन की कुंठायें समाप्त होती हैं और उसे विकास के अवसर प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में रचनात्मकता की ओर भी उसका ध्यान रहता है। घरौंदे बनाना, गुड्डे-गुड़ियों का ब्याह आदि उसकी सृजनात्मक शक्ति की ओर संकेत करते हैं।

जरशील्ड ने खेलों के द्वारा प्रसन्नता तथा सन्तुष्टि की प्राप्ति की ओर संकेत किया है। उसकी प्रसन्नता उसको अधिक सक्रिय करती है। जो खुशी वह खेल से प्राप्त करता है, वह उसकी अपनी खोज होती है।

खेल में क्रोध, आक्रमण आदि की अभिव्यक्ति भी होती है। दूसरों को सताना, सुबकना, अभद्र होना, अत्याचार करना, बदला लेना तथा असामाजिक अथवा समाज विरोधी कार्य भी प्रकट होते हैं। ऐसी अवस्था में अभिभावकों का दायित्व यह हो जाता है कि वे खेल की दिशा बदल दें, परिस्थितियाँ बदल दें।

खेल के सिद्धान्त
(Principles of Game)

खेलों की अभिव्यक्ति तथा आवश्यकता को देखते हुए विद्वानों ने अनेक सिद्धान्तों की कल्पना की है। कुछ मुख्य सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं—

(1) भावी जीवन की तैयारी का सिद्धान्त—कार्ल ग्रूस द्वारा प्रतिपादित यह मत अधिक प्रख्यात है। उनके अनुसार—बालक मूल-प्रवृत्यात्मक कार्यों में लगा रहता है। बच्चे पशु-पक्षियों को प्यार करते हैं। लड़कियाँ गुड़ियों से खेलती हैं। ये सभी खेल भावी जीवन की सम्भावनाओं को प्रशिक्षण देते हैं।

(2) मूल प्रवृत्यात्मक सिद्धान्त—मूल प्रवृत्यात्मक सिद्धान्त के प्रतिपादक **विलियम मैक्डूगल** हैं। उनके अनुसार, खेल बालकों की प्रवृत्तियों पर आधारित होते हैं। वे कहते हैं— *"खेल पूर्व-पक्व मूल-प्रवृत्तियों द्वारा निर्धारित होते हैं। इनमें अनेक मूल-प्रवृत्तियों को परिपक्वता प्रदान करने की प्रवृत्ति पाई जाती है।"*

(3) अतिरिक्त शक्ति का सिद्धान्त—इस मत के प्रतिपादक **हरबर्ट स्पैंसर** एवं **शीलर** रहे हैं। इनके मतानुसार—खेलों द्वारा मनुष्य की अतिरिक्त शक्ति व्यय होती है। बालकों में यह शक्ति अधिक पाई जाती है। उन्हें कोई शारीरिक-मानसिक कार्य नहीं करना पड़ता, परन्तु बहुत-सी क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनमें अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती, यद्यपि वे शक्ति के निर्माण का माध्यम हैं। यह सिद्धान्त यह नहीं बताता कि खेल किस प्रकार एक निश्चित रूप ग्रहण कर लेते हैं।

(4) पुनर्प्राप्ति का सिद्धान्त—इस मत का प्रतिपादन **लोजारस** ने किया था। उनके अनुसार, खेल के द्वारा व्यक्ति अपनी खोई शक्ति को पुनः प्राप्त कर लेता है और स्वस्थ अनुभव करता है।

(5) पुनरावृत्ति का सिद्धान्त—पुनरावृत्ति सिद्धान्त के प्रतिपादक **जी० स्टेनले हॉल** हैं। इनके अनुसार, व्यक्ति उन्हीं खेलों को खेलता है जिनमें उसके पूर्वजों का विकास हुआ था। दौड़ना, भागना, काटना, लड़ना, निर्माण करना आदि खेल हैं, जो मानव के पूर्वज आदि काल से करते आये हैं। **हॉल** के अनुसार— *"प्रजातीय रूप में वास्तविक खेल नया नहीं है। मैं खेल को गत्यात्मक आदत के रूप में, भूतकालीन प्रजाति की आत्मा के रूप में एवं आधारभूत कार्य मानता हूँ।"*

Scanned with OKEN Scanner

(6) खेल ही जीवन है—इस मत के प्रतिपादक जॉन डीवी (John Dewey) हैं। उनके मतानुसार, सभी मनुष्य सक्रिय होते हैं हर समय किसी-न-किसी कार्य में लगे रहते हैं। क्रियाशीलता मनुष्य तथा जीवन, दोनों का गुण है। खेलों में अन्तः अवयव (Intra Or... उद्दीपन से जीवन के सुख तथा दुःख का अनुभव होता है। जीवन की पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति खेल का सहारा लेता ...

(7) रेचन सिद्धान्त—अरस्तू ने इस मत का प्रतिपादन किया था। मनुष्य अपने जीवन में अनेक कार्यों को पूरा नहीं कर प... अनेक भावना-ग्रन्थियों का निर्माण, संवेगात्मक अस्थिरता एवं नियन्त्रण को खेलों के माध्यम से दूर कर लेते हैं। खेल मानसिक ... दूर करने का महत्वपूर्ण साधन है।

(8) विश्राम का सिद्धान्त—इस मत के प्रतिपादक पैट्रिक हैं। उनके अनुसार, थकान को दूर करने के लिए विश्राम आवश्यक ... पैट्रिक का विश्वास है—*"आधुनिक सभ्यता अवधान के केन्द्रीकरण, भावात्मक तर्क एवं सूक्ष्मतम माँसपेशियों पर निरन्तर दबाव डालती है, इससे थकान दूर होती है।"* इसलिए थकान को दूर करने के लिए खेल आवश्यक हैं और इनसे विश्राम मिलता है।

(9) पूर्वाभिनय का सिद्धान्त—पूर्वाभिनय सिद्धान्त के प्रतिपादक मेलब्रेक थे। इस मत का विकास कार्ल ग्रूस ने किया। कार्ल ग्रूस के अनुसार—*"खेल द्वारा बच्चे अपने भावी जीवन का अभिनय करते रहते हैं। कुत्ते का पिल्ला दूसरे कुत्तों के पिल्लों के साथ खेलता है। मुँह में कपड़ा उठाकर भागता है। मानव शिशु भी उसी प्रकार भावी जीवन की तैयारी करने के लिए अनेक प्रकार के खेल खेलता है। बच्चों द्वारा घरौंदे बनाकर खेलना उसी अभिनय का एक दृश्य है।"*

प्रश्न 12. खेलों के कितने प्रकार हैं? वर्णन कीजिए।
How many types of Games are there? Describe.

उत्तर—

खेलों के प्रकार
(Type of Games)

खेलों को मुख्यतः दो श्रेणियों में निम्न प्रकार से बाँटा गया है—

(I) सक्रिय खेल
(II) मनोरंजन अथवा असक्रिय खेल

[I] सक्रिय खेल (Active Games)

सक्रिय खेल वह खेल हैं जिनमें बालक को आनन्द स्वयं अपनी क्रियाओं के परिणामस्वरूप आता है। बालक खेलों के माध्यम से आनन्द पाते हैं, अतः अधिकांशतः सक्रिय खेल खेलना पसन्द करते हैं, किन्तु सक्रिय खेलों को कुछ तथ्य प्रभावित करते हैं; जैसे—

(1) सक्रिय खेलों में साथियों की आवश्यकता पड़ती है तथा साथियों द्वारा स्वीकृति से बालक को सक्रिय खेलों से मिलने वाला आनन्द प्रभावित होता है।
(2) लड़कियाँ लड़कों की तुलना में कम सक्रिय खेल पसन्द करती हैं।
(3) सक्रिय खेलों का बालक के स्वास्थ्य से सीधा सम्बन्ध है। स्वस्थ बालक अधिक सक्रिय खेल खेलना पसन्द करते हैं। दुर्बल एवं बीमार बच्चों की तुलना में स्वस्थ बालक अधिक सक्रिय खेलों द्वारा सन्तुष्टि प्राप्त करते हैं।
(4) बालक का वातावरण भी सक्रिय खेल के प्रकार को प्रभावित करता है। देश, परिस्थिति, मौसम खेलों के प्रकार को तय करता है। जो खेल ठण्डे देश में अथवा ठण्डे मौसम में खेले जाते हैं, वह गर्म मौसम में नहीं खेले जा सकते हैं।
(5) सक्रिय खेलों को बालक की बुद्धिमत्ता भी प्रभावित करती है। सामान्य से अधिक एवं कम बुद्धिमान बालक उन बालकों की तुलना में कम सक्रिय खेल पसन्द करते हैं, जो सामान्य स्तर के आस-पास हैं।
(6) अधिकांश सक्रिय खेल, खेल उपकरणों के बिना नहीं खेले जाते, अतः जिन बच्चों के पास खेल के साधन एवं उपकरण (खिलौने) कम होते हैं, वे सक्रिय खेल कम खेलते हैं।

विभिन्न प्रकार के सक्रिय खेल निम्नलिखित हैं—

(1) **कल्पनात्मक खेल**—जरसील्ड के अनुसार, 1 वर्ष का बालक अभिनय करना सीख जाता है। जिस वातावरण में वह रहता है, उसका बालक के खेलों पर प्रभाव पड़ता है तथा उसे बालक अपने खेलों में प्रतिबिम्बित करता है। कल्पनात्मक खेलों में परिवार को खेलों में उतारना—माता-पिता बच्चों के सम्बन्ध कल्पित गुड़िया घर से स्थापित करना, भावी उत्तरदायित्वों की कल्पना करना, स्वयं को सताने वाले को दूसरे द्वारा सताये जाने का दृश्य प्रस्तुत करना।

(2) **संग्रहात्मक खेल**—जैसे-जैसे बालक वातावरण से अधिक प्रभावित होता जाता है, वैसे-वैसे उसे आसपास की सुन्दर, आकर्षक वस्तुएँ प्रभावित करने लगती हैं तथा वह इन्हें संग्रह कर लेना चाहता है। इसी प्रेरणा से जुड़े हुए हैं संग्रहात्मक खेल—सीपी,

Scanned with OKEN Scanner

पत्थर के चिकने टुकड़े, सिगरेट, माचिस की खाली डिब्बियाँ, रंगीन चाक, डाक टिकट, रेल-बस की टिकट, विजिटिंग कार्ड, रंगीन चित्र आदि सामान्यतः बालक एकत्रित करते पाये जाते हैं। इन संग्रहों की हिफाजत, गिनती आदि में उन्हें सन्तुष्टि एवं आनन्द मिलता है। यह संग्रहात्मक खेलों की प्रवृत्ति 5-6 वर्ष के बालकों में अधिक पाई जाती है। यह प्रकृति किशोरावस्था तक बालकों में देखी जाती है। देश-विदेश की डाक टिकटें, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय रिकॉर्ड्स बालकों की रुचिकर संग्रहात्मक खेल क्रियाएँ हैं।

(3) शारीरिक खेल—जिन खेलों में सामाजिक गुणों से अधिक शारीरिक क्रियाओं का महत्व होता है; उन्हें शारीरिक खेल कहते हैं। ये खेल शारीरिक वृद्धि एवं विकास के लिए, माँसपेशियों के सौष्ठव के लिए एवं शरीर के क्रियात्मक विकास के लिए अधिक उपयोगी हैं; जैसे—कुश्ती, भाला फेंकना, दौड़-कूद आदि।

(4) स्वतन्त्र खेल—स्वतन्त्र खेलों से तात्पर्य है कि वह खेल जिसमें बालक कुछ भी करने को स्वतन्त्र रहता है, अर्थात् उस पर समय और, नियमों की बन्दिश नहीं रहती। स्वतन्त्र खेल प्रायः उन बालकों में अधिक लोकप्रिय हैं जो कुछ नया करने के इच्छुक होते हैं।

बालक अपने आरम्भिक माहों में विभिन्न वस्तुओं, खिलौनों में आवाज, रंग व स्थान सम्बन्धी खोज करने को आतुर रहता है। धीरे-धीरे इन खोजों का स्थान खिलौने व उनसे सम्बन्धित खेल ले लेते हैं। ये खेल बालक वाले खेलों के नाम से जाने जाते हैं; जैसे—गुड़िया-गुड्डा, खिलौने से खेलना आदि।

(5) रचनात्मक खेल—रचनात्मक खेल वे सक्रिय खेल हैं, जिनसे बालक कुछ नया सृजन करने का प्रयास एवं अभ्यास करता है। आरम्भिक बाल्यकाल से ही बालक में रचनात्मक प्रकृतियाँ विकसित होने लगती हैं। वस्तुतः रचनात्मक खेल कल्पनात्मक खेलों से काफी समानता रखते हैं, क्योंकि रचनात्मकता कल्पना शक्ति द्वारा प्रभावित होती है। आरम्भ में वस्तुओं को एक के ऊपर एक लगाना, ब्लॉक जोड़कर, आकृतियाँ बनाना आदि रचनात्मक खेल बालक खेलता है। धीरे-धीरे मिट्टी से खिलौने, बर्तन बनाना, कागज के फूल, अन्य आकृतियाँ बनाना, माला बनाना आदि रचनात्मक क्रियाएँ खेल के रूप में बालक स्वीकार कर लेता है।

बालिकाएँ गुड़िया बनाना, उनका घर बनाना, उनके कपड़े सिलना आदि रचनात्मक खेल अधिक खेलती हैं। प्रायः रचनात्मक एवं कल्पनात्मक खेल एक साथ भी खेले जाते हैं।

(6) संगठित खेल—संगठित होकर समूह में खेलने वाले खेल संगठित खेल कहलाते हैं। उत्तर बाल्यकाल से यह खेल बालकों में अधिक प्रचलित होते जाते हैं। इन खेलों में सामान्यतः अधिकांश मैदान में खेलने वाले खेल आ जाते हैं; जैसे—खो-खो, फुटबॉल, हॉकी आदि। इन खेल के अपने नियम एवं संगठन होते हैं प्रायः ये अपने निर्मित फ्रेमवर्क में ही खेले जाते हैं। संगठित खेल किशोरावस्था तक खेले जाते हैं। टीम के अन्दर खेलना इन खेलों की विशेषता है।

[III] मनोरंजन अथवा असक्रिय खेल (Entertainment or Inactive Games)

ये वह खेल हैं, जिनमें बालक कम से कम शारीरिक गतिविधियाँ करके दूसरों की क्रियाओं के परिणामस्वरूप आनन्द पाता है। यह क्रिया क्योंकि बालक को सुखद आनन्द की अनुभूति प्रदान करती है, यह भी खेल के अन्तर्गत आती है; जैसे—

(1) टेलीफिल्म देखना,
(2) कार्टून देखना,
(3) वीडियो गेम्स खेलना, देखना,
(4) संगीत सुनना,
(5) कहानी, कॉमिक्स पढ़ना,
(6) खेल का प्रदर्शन देखना।

प्रश्न 13. मानसिक स्वास्थ्य से आप क्या समझते हैं? स्वस्थ मानसिक स्वास्थ्य के लक्षण बताइये।
What do you think of Mental Health? Tell the Symptoms of Healthy Mental Health.

अथवा

मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा इसे परिभाषित कीजिए।
Clarify the Meaning of Mental Health and Define it.

उत्तर—

मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ
(Meaning of Mental Health)

मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ मानव व्यक्तित्व के सन्तुलित व्यवहार से है। सन्तुलित व्यवहार वाला व्यक्ति ही मानसिक रूप से स्वस्थ कहा जा सकता है। स्वस्थ व्यक्ति का व्यवहार प्रत्येक परिस्थिति में ही सन्तुलित होना चाहिए। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति

Scanned with OKEN Scanner

प्रत्येक परिस्थिति में समायोजन कर लेता है। कुप्पूस्वामी ने मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ मानसिक रोगों की अनुपस्थिति नहीं है। यह तो व्यक्ति के दैनिक जीवन का सक्रिय तथा निश्चित गुण है। मानसिक स्वास्थ्य कार्य की ऐसी आदतों, व्यक्तियों और वस्तुओं के प्रति ऐसे दृष्टिकोण को व्यक्त करता है, जिससे व्यक्ति को अधिकतम सन्तोष और आनन्द की प्राप्ति होती है। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति वह नहीं है, जिसके व्यवहार का समूह अथवा समाज में विरोध न हो। इस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य समायोजन की प्रक्रिया है, जिसमें समझौता तथा सामंजस्य, विकास तथा निरन्तरता का समावेश रहता है।

मानसिक स्वास्थ्य की परिभाषाएँ (Definitions of Mental Health)

मानसिक स्वास्थ्य के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कुछ विद्वानों के विचार निम्नांकित हैं—

प्रो० भाटिया के अनुसार, *"मानसिक स्वास्थ्य यह बताता है कि कोई व्यक्ति जीवन की माँगों तथा अवसरों के प्रति कितना अच्छी तरह समायोजित होता है।"*

स्लाडेन के अनुसार, *"मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ है—वास्तविकता के धरातल पर वातावरण से पर्याप्त सामंजस्य स्थापित करने की योग्यता।"*

हेडफील्ड के अनुसार, *"सम्पूर्ण व्यक्तित्व की पूर्ण एवं सन्तुलित क्रियाशीलता को मानसिक स्वास्थ्य कहते हैं।"*

स्वस्थ मानसिक स्वास्थ्य के लक्षण
(Symptoms of Healthy Mental Health)

मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के निम्नलिखित लक्षण होते हैं—

(1) मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता प्राप्त करता है।
(2) वह सहनशील होता है। जीवन में आने वाली विभिन्न कठिनाइयों को सहन करने की क्षमता रखता है।
(3) ऐसे व्यक्ति में आत्मविश्वास होता है। उसे अपनी योग्यताओं एवं क्षमताओं पर विश्वास होता है।
(4) वह अपने संवेगों पर नियन्त्रण रखता है। उसके व्यवहार में संवेगात्मक स्थिरता एवं परिपक्वता पाई जाती है।
(5) मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति वातावरण से भली-भाँति समायोजन कर लेता है। वह वातावरण के अनुरूप अपने-आप को बना लेता है तथा वातावरण को अपने अनुरूप बदल लेता है।
(6) ऐसा व्यक्ति किसी कार्य के प्रति शीघ्र निर्णय ले लेता है कि उसे उस कार्य को कब, कैसे तथा क्यों करना है?
(7) अपने व्यवसाय में अत्यधिक सन्तोष प्राप्त करता है।
(8) मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति अपने स्वास्थ्य के प्रति बड़ा सजग रहता है। शारीरिक स्वास्थ्य व मानसिक स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है।
(9) ऐसा व्यक्ति दृढ़ इच्छा शक्ति वाला होता है। जीवन में आने वाली कठिनाइयों में भी वह संघर्ष करता है तथा अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करता है।
(10) ऐसे व्यक्ति की आकांक्षायें उच्च स्तर की होती हैं।
(11) वह जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण रखता है।

प्रश्न 14. मानसिक स्वास्थ्य और शिक्षा का क्या सम्बन्ध है? मानसिक स्वास्थ्य पर घर तथा विद्यालय का क्या प्रभाव पड़ता है?
What is Relation between Mental Health and Education? What is the Impact of Home and School on Mental Health.

उत्तर—

मानसिक स्वास्थ्य और शिक्षा
(Mental Health and Education)

शिक्षा के इतिहास में एक समय था, जबकि बच्चे की बुद्धि, रुचि व मानसिक स्थिति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। शिक्षा पूर्णतया अध्यापक-केन्द्रित थी और शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बच्चों को 'थ्री आर्स' का ज्ञान देना था, किन्तु अब शिक्षा का केन्द्र बालक बन गया है, उसकी मानसिक स्थिति रुचि व अन्य योग्यताओं को आधार मानकर ही पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाता है और शिक्षा का उद्देश्य बालक का समविकास करना है। यदि बालक मानसिक दृष्टि से स्वस्थ नहीं होंगे तो उनकी रुचि पढ़ाई में नहीं हो सकती, जिनके कारण कक्षा की पढ़ाई में उनका ध्यान केन्द्रित नहीं हो सकता है और शिक्षण का लाभ नहीं उठा सकेंगे। प्रत्येक शिक्षक को मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक है, जिससे वह अपने और छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने में योग दे सके और जो छात्र मानसिक रोगों से या समायोजन दोषों से पीड़ित हों उनकी सहायता कर सकें। यह बात सर्वविदित है कि मानसिक स्वास्थ्य

Scanned with OKEN Scanner

विज्ञान और शिक्षा, दोनों को एक-दूसरे से भिन्न नहीं किया जा सकता। प्रजातन्त्र देश में—(1) आत्मानुभूति, (2) मानव सम्बन्ध, (3) आर्थिक कुशलता, (4) नागरिक उत्तरदायित्व उद्देश्यों की प्राप्ति तब ही हो सकती है, जब बच्चे मानसिक दृष्टि से स्वस्थ हों।

शिक्षा का उद्देश्य छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य को ठीक बनाये रखना भी है, क्योंकि अच्छे मानसिक स्वास्थ्य के बगैर बच्चों की योग्यताओं का उचित विकास सम्भव नहीं है और जिन बच्चों में भय, चिन्ता, निराशा तथा अन्य समायोजन दोषों का विकास हो जाता है, उनका मन पढ़ने में नहीं लगता और सीखने में उन्नति नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त समायोजन दोष वाले बालक स्कूल में कई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न करते हैं, जिनको समझने और समाधान के लिए प्रत्येक अध्यापक को मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का जानना आवश्यक है।

मानसिक स्वास्थ्य पर घरेलू प्रभाव तथा विद्यालय का प्रभाव
(Impact of Home and School on Mental Health)

(1) घरेलू प्रभाव—बालक के स्वास्थ्य पर घर का प्रभाव पड़ता है। घर पर ही उसका विकास होता है। बदलती सामाजिक मान्यताएँ घर को प्रभावित कर रही हैं और बालकों के पोषण पर उनका प्रभाव समस्या के रूप में हो रहा है। घर पर प्रभाव डालने वाले तत्व निम्न हैं—

(a) माता-पिता का व्यवहार—जिन घरों में माता-पिता का व्यवहार बालक के प्रति अच्छा नहीं होता, वहाँ भी बालक असमायोजित हो जाता है। ऐसे परिवारों में बालकों की अवहेलना होती है।

(b) उच्च आदर्श—प्रायः माता-पिता बालकों की वैयक्तिक भिन्नता का विचार किये बिना ही बच्चों के लिए ऊँचे आदर्शों का निर्माण कर लेते हैं। बच्चे जब उन आदर्शों की पूर्ति नहीं कर पाते, तब मानसिक असमायोजन की वृद्धि होती है।

(c) परिवार में तनाव—भारतीय परिवार में केवल माता-पिता और उनके बच्चे ही नहीं होते, बल्कि दादा, दादी, चाचा, ताऊ, चाची, ताई अनेक सदस्य होते हैं, जिनका बच्चों के साथ विभिन्न बर्ताव होता है। परिवार के तनाव का बच्चों के मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(d) परिवार का विघटन—औद्योगिक प्रगति ने परिवार के संगठन को छिन्न-भिन्न कर दिया है। जिन घरों में माता-पिता, दोनों ही सर्विस करते हैं, वहाँ पर बच्चों की स्थिति और भी खराब हो जाती है। इसलिए अलगाव तथा तलाक बढ़ते जा रहे हैं। इस स्थिति का प्रभाव बालकों के मस्तिष्क पर पड़ना स्वाभाविक है।

(e) निर्धनता—निर्धनता को पापों तथा विकारों का मूल कहा गया है। भारत में तो 80 प्रतिशत अस्वस्थता निर्धनता के कारण है। विद्यालयों में ऐसे बालकों का अभाव नहीं है, जो वस्त्र तक ठीक से नहीं पहन कर आते।

(f) घर का अनुशासन—घर के अनुशासन का बच्चे के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है, लेकिन दुर्भाग्यवश हमारे देश में निरक्षरता के कारण अनुशासन का कोई स्तर नहीं है। कहीं पर बच्चों को पूर्ण स्वतन्त्रता है तो कहीं पर उनको जरा सी गलती पर सख्त सजा दी जाती है। ऐसे घरों में बच्चों में मानसिक डर तथा चिन्ता बनी रहती है।

(2) विद्यालय का प्रभाव—मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव डालने वाले तत्वों में विद्यालय तथा उनसे सम्बन्धित ये कारण भी उत्तरदायी हैं—

(a) अध्यापक का व्यवहार—अध्यापक का स्थान विद्यालय में बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसका व्यक्तित्व बच्चों के व्यक्तित्व को निरन्तर प्रभावित करता रहता है। यदि अध्यापक का व्यवहार पक्षपातपूर्ण है या वह सामान्य रूप से बच्चों के प्रति सहानुभूति नहीं रखता है या बच्चों को अत्यधिक शारीरिक दण्ड देता है तथा छोटी-छोटी गलतियों पर बुरा-भला कहता है, ऐसे अध्यापक से बच्चे भयभीत रहते हैं। यह निरन्तर भय मानसिक स्वास्थ्य को खराब करता है।

(b) विद्यालय का वातावरण—विद्यालय के वातावरण का बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य पर भारी प्रभाव पड़ता है। यदि विद्यालय में छात्र सुरक्षा अनुभव नहीं करते हैं तो उनके मस्तिष्क में निरन्तर चिन्ता व भय बना रहता है। जिस विद्यालय में जाति-पाँति का प्रश्न पाया जाता है, वहाँ पर विभिन्न प्रकार के झगड़े पाये जाते हैं, जो बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालते हैं।

(c) अभिव्यक्ति के अवसर न देना—जिन विद्यालयों में छात्रों को विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जाती है, वहाँ पर छात्र भय के कारण अपने विचार व्यक्त करने की इच्छा का दमन करते हैं, जो मानसिक स्वास्थ्य पर गलत प्रभाव डालता है।

(d) परीक्षण प्रणाली—परीक्षा प्रणाली पर भी बालकों का मानसिक स्वास्थ्य निर्भर करता है। यदि परीक्षा प्रणाली ऐसी है, जिससे बालक का मूल्यांकन ठीक प्रकार से नहीं हो सकता तो बालक की योग्यता का सही पता नहीं लगेगा और इस प्रकार बालक वातावरण में अपने आपको समायोजित नहीं कर पायेगा।

Scanned with OKEN Scanner

प्रश्न 15. शिक्षकों के मानसिक स्वास्थ्य का वर्णन कीजिए।
Describe the Mental Health of the Teachers.

उत्तर—

शिक्षकों का मानसिक स्वास्थ्य
(Mental Health of the Teachers)

अध्यापक राष्ट्र का निर्माता कहा जाता है। यदि अध्यापक का मानसिक स्वास्थ्य ठीक नहीं होगा तो वह अपने छात्रों के साथ न्याय नहीं कर सकता। उसके मानसिक स्वास्थ्य का प्रभाव भावी पीढ़ी पर पड़ता ही है। **डी० जी० रैनास** के अनुसार— *"अध्यापक वे हैं, जो बुद्धिमान कौशल से परिपूर्ण, कर्त्तव्यनिष्ठ, समझदार हों, अच्छे रचनात्मक समाज के निर्माण के लिए उनकी आवश्यकता है।"* सफल अध्यापक में निम्न विशेषताओं का होना अनिवार्य है। ये विशेषताएँ भारत सरकार द्वारा प्रकाशित *'सक्सीड्स एज ए टीचर' (Who Succeeds as a Teacher)* नामक पुस्तिका से ली गई हैं।

(1) राष्ट्रीय सेवा भावना का विकास (Inculcate spirit of national service)—अध्यापक राष्ट्र निर्माता कहा जाता है। अध्यापक को चाहिए कि वह राष्ट्रीय सेवा तथा भावना का अपने से विकास करे। संकीर्ण भावना से बचे। राष्ट्रीय भावना के प्रसार का लक्ष्य होने से अध्यापक में आत्मविश्वास विकसित होता है और राष्ट्रहित व्यापक होता है।

(2) सुस्ती से दूर रहो (Be free from idleness)—अध्यापक को चाहिए कि वह अपने काम में सुस्ती न बरते। ऐसा करने से वह, जहाँ एक ओर अपने विषय को पढ़ाने में सफलता प्राप्त करेगा, वहाँ दूसरी ओर वह छात्रों व अपने साथियों के बीच लोकप्रिय भी होगा।

(3) कर्त्तव्यपरायणता में अहं को दूर रखो (Free from ego)—यदि अध्यापक कर्त्तव्यपरायण है तो उसे अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के प्रति अहं नहीं होना चाहिए। यदि उसमें अहं पैदा हो जाता है तो जहाँ तक वह कर्त्तव्यनिष्ठ है, वहाँ उसी के साथी उसे उसके कर्तव्य से च्युत करने में पीछे न रहेंगे। इससे कटुता उत्पन्न होती है।

(4) कर्त्तव्य ही पुरस्कार है (Duty is reward)—अध्यापक को चाहिए कि वह अपने कर्त्तव्य की ओर ध्यान दे। वास्तविकता यह है कि अध्यापक समाज के निर्माण की आधारशिला है। यदि अध्यापक ही कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होगा तो उसका काम न तो छात्रों के हित में होगा और न राष्ट्र के।

(5) अपने को विद्यार्थी समझो और छात्रों से प्रेम रखो (Be a student and love your pupils)—छात्रों को उसी अध्यापक के प्रति सहानुभूति होती है, जो उन्हें प्यार करते हैं। अतः आवश्यक है कि अध्यापक छात्रों से प्रेम करें।

(6) वातावरण के अनुसार बदलो (Change according to environment)—एक अध्यापक तभी सुखी रह सकता है, जबकि वह समय तथा वातावरण के साथ बदलता रहे। यदि उसकी मान्यताओं में कोई परिवर्तन नहीं होता तो वह सफल अध्यापक नहीं हो सकता। इसका कारण शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का होना है, जिनसे परिचित होना हर अध्यापक का कर्त्तव्य है। समायोजनशीलता उसमें होनी चाहिए।

(7) सिद्धान्त और क्रिया में समानता (Consistency in theory and practice)—शिक्षा के सिद्धान्त तथा व्यवहार में कोई अन्तर न होकर समानता होनी चाहिए। ऐसा न होने से शिक्षा जीवन की परिस्थितियों के साथ मेल नहीं खाती और समाज का विघटन आरम्भ हो जाता है।

(8) अपने व्यवसाय को प्यार करो (Love your profession)—सफल अध्यापक हमेशा अपने व्यवसाय के प्रति निष्ठावान होता है। वह केवल खाना-पूरी के लिए विद्यालय में नहीं जाता, अपितु वह अध्यापक की सामग्री के साथ-साथ अध्यापन की नई-नई विधियों के विषय में भी सतर्क रहता है और उनका परीक्षण करता रहता है।

(9) प्राचीन गुरुओं के आदर्शों को मानो (Follow your ancient Gurus)—प्राचीन गुरुओं के आदर्शों पर चलने से 'सादा जीवन उच्च विचार' की पावन भावना का विकास होता है। इस भावना के वशीभूत होकर जीवन में कुंठाओं व भावना ग्रन्थियों की उत्पत्ति की सम्भावना कम रहती है। जीवन में सरलता आती है और मान्यतायें निर्धारित होती हैं।

(10) सहयोगियों के साथ समान व्यवहार करो (Treat your colleagues as equals)—अध्यापक को चाहिए कि वह अपने साथियों के साथ समान व्यवहार करे। ऐसा करने से वह साथियों में लोकप्रिय होगा। यही लोकप्रियता उसे प्रसिद्धि के शीर्ष तक ले जाती है।

(11) सत्यं शिवम् सुन्दरम् में विश्वास रखो (Believe in Truth, Good and Beauty)—अध्यापक को चाहिए कि वह सदैव 'सत्यं शिवम् सुन्दरम्' में विश्वास रखे। ऐसा करने से जीवन की शाश्वत मान्यताओं के प्रति उसकी आस्था बढ़ेगी और वह फिर जो भी अपने विद्यार्थियों को देगा, उसमें उसका अपना योग होगा।

(12) प्रजातन्त्र में विश्वास रखो (Believe in democracy)—शिक्षा का उद्देश्य बालक का सर्वांगीण विकास करना है। यह तभी होगा जब अध्यापक प्रजातन्त्र में विश्वास रखेगा और समाज व्यवस्था के हर पहलू पर प्रजातान्त्रिक रूप से विचार करेगा।

Scanned with OKEN Scanner

ऐसे लोगों के हाथ में होती है जो जी-हजूरी चाहते हैं। यदि किसी अध्यापक ने उनके उचित या अनुचित आदेश को न माना तो बस उसकी नौकरी खतरे में पड़ जाती है।

(viii) **शिक्षण की सामग्री का अभाव** (Lack of Teaching Material)—विद्यालय में शिक्षण सामग्री का पर्याप्त न होना भी अध्यापक के मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता है। देश में अनेक ऐसे विद्यालय हैं, जिनमें न पुस्तकालय है न वाचनालय और न ही पर्याप्त सहायक सामग्री।

अध्यापकों में मानसिक अस्वस्थता रोकने के उपाय
(Measures to Prevent Mental Disorder in Teachers)

अध्यापकों में मानसिक तनाव कम करने के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत हैं—

(1) **नौकरी सुरक्षा** (Security of the job)—अध्यापकों को नौकरी की सुरक्षा होनी चाहिए, जिससे वह किसी भी विद्यालय में निश्चिन्त रूप से काम कर सकें। सर्विस के नियमों में सुधार हो तथा उनका पालन अनिवार्य रूप से किया जाय।

(2) **अध्यापकों को प्रशिक्षण** (Teacher's Training)—अध्यापकों को समय-समय पर प्रशिक्षण के लिए भेजते रहना चाहिए, जिससे वह नई अध्यापन विधियों से परिचित हो जायें। इससे अध्यापक लकीर का फकीर नहीं रहता और उसका दृष्टिकोण विस्तृत होता है।

(3) **जनतांत्रिक विचारधारा** (Democratic Ideas)—प्रत्येक अध्यापक को अपने विचार व्यक्त करने का अवसर देना चाहिए। प्रधानाध्यापक का अध्यापकों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार होना चाहिए। समय-समय पर अध्यापकों की सभाओं का आयोजन करना चाहिए, जिनमें व्यक्तिगत और सामूहिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(4) **मनोरंजन के साधन** (Means of Recreation)—प्रत्येक विद्यालय में अध्यापकों के लिए मनोरंजन के विभिन्न साधनों का प्रबन्ध किया जाए। इससे अध्यापकों में तनाव कम होगा।

(5) **रुचिकर कार्य** (Hobbies)—प्रत्येक अध्यापक को विद्यालय के समय के पश्चात् किसी रुचिकर कार्य में अपना समय व्यतीत करना चाहिए। इसमें उसे अपनी शक्तियों के विकास का पर्याप्त अवसर मिलेगा।

(6) **वेतन वृद्धि** (Increase in Salary)—वर्तमान समय में अध्यापकों को इतना कम वेतन मिलता है कि वह उससे अपना ठीक प्रकार से जीवन-निर्वाह भी नहीं कर पाते हैं, जिसके कारण उनके मस्तिष्क में कई प्रकार की आर्थिक समस्याएँ बनी रहती हैं। यदि उनके वेतन में वृद्धि कर दी जाए तो दैनिक जीवन की बहुत-सी समस्याएँ हल हो जायेंगी और इस प्रकार भविष्य में होने वाली मानसिक अस्वस्थता को रोका जा सकता है। अधिक वेतन मिलने से अध्यापक अपने आपको समाज के अन्य वर्गों से समान समझने लगता है और उसकी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति अच्छी हो जाती है।

(7) **विद्यालय का वातावरण** (School climate)—विद्यालय का वातावरण अध्यापक के मानसिक स्वास्थ्य पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालता है। वातावरण सहयोग और सहानुभूतिपूर्ण हो। पक्षपात तथा जातीयता की भावनाओं को कोई स्थान न दिया जाए।

(8) **सामाजिक कार्यों में रुचि** (Interest in social work)—अध्यापकों को समय-समय पर सामाजिक कार्यों में रुचि लेनी चाहिए। समाज की विभिन्न क्रियाओं में हाथ बँटाना चाहिए।

(9) **कार्य के भार में कमी** (Less work load)—आजकल अध्यापकों को इतना अधिक काम करना पड़ता है कि वे हर समय व्यस्त रहते हैं, जिसके कारण उनके मन में कई प्रकार की चिन्ताएँ बनी रहती हैं। अध्यापकों को अध्यापन में अधिक मानसिक कार्य करना पड़ता है। इसलिए उन पर काम का भार कम होना चाहिए।

(10) **अन्य सुविधाएँ** (Other Facilities)—अध्यापकों को दूसरे व्यवसायों की भाँति चिकित्सा, बच्चों की शिक्षा, घर तथा पेंशन इत्यादि की सुविधाएँ मिलनी चाहिए।

(11) **अध्यापन की सुविधाएँ** (Facilities of Teaching)—विद्यालय में स्थान तथा अध्यापन सामग्री की सुविधाएँ दी जायें, जिससे शिक्षक उचित रूप में पढ़ा सकें।

प्रश्न 17. रुचियों से क्या अभिप्राय है? रुचियों का विकास किस प्रकार होता है? बालक की रुचियों को ज्ञात करने की मुख्य विधियाँ कौन-कौन सी हैं?
What do you mean by the Interests? How does the Interests Develop? What are the Main Methods of Discovering Children's Interests?

उत्तर— बालक के जीवन में रुचियों का महत्त्वपूर्ण स्थान और कार्य है, क्योंकि व्यक्ति क्या और कैसे करेगा, यह बहुत कुछ उसकी रुचियों द्वारा ही निर्धारित होता है। रुचियाँ एक प्रकार की सीखी हुई अभिप्रेरणाएँ हैं। जब एक व्यक्ति अपनी पसन्द के आधार पर कोई कार्य करने को अथवा कोई क्रिया करने को स्वतन्त्र होता है तो वह व्यक्ति इन क्रियाओं को अपनी रुचि के आधार पर चुनता

Scanned with OKEN Scanner

और करता है। बाल्यावस्था में बालकों के अधिगम के लिए रुचियाँ शक्तिशाली अभिप्रेरक का कार्य करती हैं। यह देखा गया है कि बच्चे जिन कार्यों और खेलों में अधिक रुचि रखते हैं, वे उनको करने और सीखने के लिए अधिक प्रयास करते हैं। वास्तविक रुचियाँ बालक के जीवन में अधिक स्थायी होती हैं। बालकों के जीवन में इनका महत्त्व इसलिए अधिक है कि यह अधिगम के लिए अभिप्रेरणा स्त्रोत (Source of Strong Motivation to Learn) हैं।

रुचियों का अर्थ (Meaning of Interests)

गिल्फोर्ड (1964) के अनुसार, *"रुचि वह प्रवृत्ति है, जिससे हम किसी व्यक्ति, वस्तु या क्रिया की ओर ध्यान देते हैं, उससे आकर्षित होते हैं या सन्तुष्टि प्राप्त करते हैं।"*

आइजेंक (1972) के अनुसार, *"रुचि व्यवहार की वह प्रवृत्ति है, जो कुछ वस्तुओं, क्रियाओं या अनुभवों के प्रति कार्य कर सकने में समर्थ होती है। तीव्रता (और सामान्यीकरण) में यह प्रवृत्ति व्यक्ति से व्यक्ति में परिवर्तित होती रहती है।"*

रुचि और भाव में अन्तर है। भाव में सुख-दुःख अथवा इन दोनों की मिश्रित अनुभूति होती है, जबकि रुचि में व्यक्ति को केवल सुख की ही अनुभूति होती है। रुचि और अभिवृत्ति (Attitude) में भी सम्बन्ध है। रुचि वस्तु, व्यक्ति और अनुभव आदि के प्रति धनात्मक ही होती है, जबकि अभिवृत्ति धनात्मक भी हो सकती है और ऋणात्मक भी हो सकती है। रुचि और सनक (Whim) में भी अन्तर है। सनक एक स्थायी रुचि है, परन्तु जब यह अधिक दिनों तक बनी रहती है तो यह रुचि से भी अधिक शक्तिशाली बन जाती है। सनक अस्थायी सन्तुष्टि प्रदान करती है। अतः इसकी तीव्रता भी जल्दी-जल्दी परिवर्तित होती रहती है। रुचियाँ योग्यता से भी घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। जब किसी बालक में योग्यता के साथ रुचियाँ पाई जाती हैं तो उस व्यक्ति के उन्नति करने की सम्भावना अधिक रहती है। रुचियाँ बालक की पसन्दों और नापसन्दों से भी घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। रुचियाँ बालक को आनन्द प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए—यदि कोई व्यक्ति पढ़ने में रुचि रखता है तो उसे पढ़ने में आनन्द आता है; दूसरी ओर यदि एक बालक पढ़ने में रुचि नहीं रखता है और फिर भी उसे पढ़ना पड़ता है तो पढ़ना उसे एक बोझ के समान लगता है।

रुचियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आजकल के मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि रुचियाँ सीखी हुई प्रवृत्तियाँ हैं, परन्तु **सुपर** (D. E. Super, 1962) का इस सम्बन्ध में विचार है कि *"Interests are the product of interaction between inherited aptitudes and endocrine factors on one hand, and opportunity and social evaluation on the other."* प्रायः अध्ययनों में यह देखा गया है कि यदि कोई व्यक्ति बाल्यावस्था में कुछ रुचियों को सीखने से वंचित रह जाता है तो इसके लिए उसे जीवन-भर कष्ट उठाना पड़ सकता है। कुछ व्यक्तियों को इस सम्बन्ध में दुःख प्रकट करते भी देखा गया है कि उन्होंने बचपन में अमुक रुचियों को विकसित नहीं किया। इसका अर्थ यह नहीं है कि रुचियों का विकास केवल बाल्यावस्था में ही होता है। रुचियाँ तो जीवन-पर्यन्त कभी भी सीखी जा सकती हैं। यह बात और है कि बच्चों के पास समय और अवसर की अधिकता होने से नई रुचियों को सीखना अधिक आसान होता है।

रुचियों का विकास (Development of Interests)

रुचियों का विकास अधिक अनुभवों के आधार पर होता है। कितनी मात्रा में और किस प्रकार की रुचियों का विकास होगा, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि बालक का अधिगम किस प्रकार का है। इस दिशा में तीन प्रकार की व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं—

(1) बच्चे प्रयत्न और भूल (Trial and Error) अधिगम द्वारा ही रुचियों को सीखते हैं। इस प्रकार से सीखी गई रुचियाँ अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होती हैं। यह रुचियाँ कई बार सनक (Whim) में भी परिवर्तित हो जाती हैं। बहुधा देखा गया है कि इस प्रकार रुचियों के सीखने में यदि बालक को निर्देशन (Guidance) दिया जाय तो बालक को रुचियाँ सीखने के अनेक अवसर प्राप्त होते हैं।

(2) बच्चे तादात्मीकरण (Identification) के द्वारा भी अनेक रुचियों का अधिगम करते हैं। बहुधा देखा गया है कि बच्चे उन व्यक्तियों में तादात्मीकरण स्थापित करते हैं, जो बच्चों को प्यार करते हैं या उनकी प्रशंसा करते हैं। प्रशंसा और प्यार करने वाले व्यक्तियों के व्यवहार को बालक तो सीखता ही है, साथ ही साथ वह रुचियों को भी सीखता है। इस विधि द्वारा रुचियों के अधिगम के लिए आवश्यक है कि बालक में उसी प्रकार की योग्यताएँ और कुशलताएँ हों, जैसी कि उस व्यक्ति में जिसकी रुचियों का बालक अनुकरण कर रहा है।

(3) बालक में रुचियों का विकास निर्देशन (Guidance) के द्वारा भी किया जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि निर्देशन उसी व्यक्ति के द्वारा दिया जाए, जो बालक की योग्यताओं का मूल्यांकन कर सके और निर्देशन दे सके। इसके लिए आवश्यक है कि निर्देशनकर्त्ता अनुभवी और प्रशिक्षित (Trained) हो।

Scanned with OKEN Scanner

बालकों की रुचियों के विकास को समझने के लिए आवश्यक है कि बालकों की रुचियों की विशिष्टताओं को भी समझा जाय। बालकों की रुचियों से सम्बन्धित कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार से हैं—

(1) बालकों की रुचियों का विकास बालकों के शारीरिक और मानसिक विकास के समानान्तर (Parallel) होता है। बालकों के शारीरिक और मानसिक विकास के साथ बालक की रुचि विभिन्न आउटडोर खेलों में बढ़ती जाती है। अध्ययनों में यह देखा गया है कि बालकों की रुचियों में परिवर्तन उस समय तक अधिक होते हैं, जब तक उनके शारीरिक और मानसिक विकास में परिवर्तन होते रहते हैं। जब शारीरिक और मानसिक विवृद्धि की गति मन्द हो जाती है, तब बालक की रुचियों में परिवर्तन भी अपेक्षाकृत कम होते हैं।

(2) बालकों की रुचियों का विकास बालकों की सीखने की तत्परता (Readiness to Learn) पर निर्भर करता है। बालक जब तक शारीरिक और मानसिक रूप से परिपक्व नहीं होता है तब तक सीखने की तत्परता का अभाव होगा और वह रुचियों को सीखने में असमर्थ होगा। उदाहरण के लिए, बालक गेंद खेलने में तभी रुचि ले सकता है जब वह बैठना, खड़े होना और चलना सीख ले।

(3) रुचियों का विकास सीमित हो सकता है। अध्ययनों में यह देखा गया है कि जिन बच्चों का शारीरिक विकास दोषपूर्ण होता है, उनकी रुचियों का विकास सामान्य बालकों की भाँति नहीं होता है। इसी प्रकार मानसिक विकास भी बालकों की रुचियों के विकास को सीमित करता है। उदाहरण के लिए, मानसिक रूप से दुर्बल बालकों की पढ़ाई-लिखाई में सीमित रुचि होती है।

(4) बालकों की रुचियों का विकास सीखने के अवसरों से प्रभावित होता है। प्रायः अध्ययनों में यह देखा गया है कि शारीरिक और मानसिक रूप से तत्पर बालकों को तब तक सीखने के अवसर प्राप्त नहीं होते हैं, जब तक उनमें उपयुक्त और आवश्यक रुचियों का विकास नहीं होता है। छोटे बच्चों की रुचियों को विकसित करने के अवसर अधिकांशतः परिवार, पड़ोस तथा स्कूल तक सीमित होते हैं। अतः इनसे बच्चों को जो और जिस प्रकार के सीखने के अवसर प्राप्त होते हैं, वैसी ही रुचियों का विकास बालक में होता है।

(5) रुचियों का विकास सांस्कृतिक कारकों (Cultural Factors) से प्रभावित होता है। सांस्कृतिक कारक बालकों की अधिगम सुविधाओं को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, बालक को अधिगम की सुविधाएँ उसके माता-पिता, परिवारजनों, गुरुजनों एवं अन्य परिचितों और मित्रों द्वारा प्राप्त होती हैं। इन सबसे बालकों को केवल उन्हीं रुचियों को सीखने और विकसित करने का अवसर मिलता है, जो समूह और समाज द्वारा उपयुक्त समझी जाती हैं अर्थात् वे रुचियाँ जो संस्कृति का अंग होती हैं।

बालकों की रुचियों को ज्ञात करने की विधियाँ
(Methods of Discovering Children's Interests)

बालकों की रुचियों को ज्ञात करने की अनेक विधियाँ हैं। इनमें से एक समय में केवल एक या कुछ ही विधियों का उपयोग बालक की रुचियों को ज्ञात करने के लिए किया जाता है। इनमें से कुछ प्रमुख विधियाँ निम्न प्रकार से हैं—

(1) बालक द्वारा पूछे गये प्रश्नों (Questions) के आधार पर भी उनकी रुचियों का अध्ययन किया जा सकता है। बहुधा यह देखा गया है कि बालक उन वस्तुओं और क्रियाओं आदि के सम्बन्ध में अधिक प्रश्न पूछते हैं, जिनमें वह रुचि अधिक रखते हैं।

(2) बड़े बालकों की रुचियों के अध्ययन के लिए बहुधा मानकीकृत रुचि परीक्षणों (Interest Tests) का उपयोग किया जाता है। इन परीक्षणों में कुछ परीक्षणों में विभिन्न चित्रों के द्वारा रुचियों का मापन किया जाता है तथा अन्य परीक्षण में प्रश्नों की सहायता से रुचियों का मापन किया जाता है। शैक्षिक, व्यावसायिक और सामान्य रुचियों के अध्ययन के लिए अनेक प्रकार के मानकीकृत परीक्षण उपलब्ध हैं।

(3) बालक की क्रियाओं के निरीक्षण (Observation) द्वारा उसकी रुचियों को ज्ञात करना होता है। बालक की दैनिक जीवन की क्रियाओं का निरीक्षण करके उसकी रुचियों को ज्ञात किया जा सकता है। वह किस प्रकार के खिलौनों से खेलता है, वह कौन-कौन से खेल खेलता है, वह किस प्रकार की वस्तुओं और खिलौनों का संग्रह करता है, आदि क्रियाओं के निरीक्षण द्वारा यह सरलता से पता लगाया जा सकता है कि बालक की किन चीजों में रुचि अधिक है और किन चीजों में कम है।

(4) बालक की रुचियों का अध्ययन बालक द्वारा की गई बातचीत (Conversation) द्वारा किया जाता है। बच्चे जिन वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में अधिक बातचीत करते हैं, उनमें बहुधा उनकी रुचि अधिक होती है।

Scanned with OKEN Scanner

प्रश्न 18. बाल्यावस्था की प्रमुख रुचियों का वर्णन कीजिए।
Describe the Main Interests of Childhood.

उत्तर—

बाल्यावस्था की प्रमुख रुचियाँ
(Main Interests of Childhood)

(1) शरीर में रुचि (Interest in Body)

छः-सात माह का बालक जब बैठना सीख जाता है, तब उसकी रुचि उसके स्वयं के शरीर के प्रति विकसित होने लगती है। इस अवस्था से वह अपने शरीर के विभिन्न अंगों को देखना और उन्हें ढूँढ़ना या जानना प्रारम्भ करता है। लगभग ढाई-तीन वर्ष की अवस्था में वह दर्पण में जब अपनी मुखाकृति देखता है तो वह विभिन्न प्रकार से मुँह बनाता है और हँसता है। हरलॉक (1974) का विचार है कि बालक जब 3.5 वर्ष का हो जाता है, तब वह इस बात में रुचि लेने लगता है कि उसके शरीर के विभिन्न अंग किस प्रकार से क्रिया करते हैं। वह शीशे में अपने शरीर के विभिन्न अंगों को देखता है, उनके बारे में प्रश्न पूछता है। लार, पसीना और आँसू कहाँ से आते हैं, इनके बारे में वह प्रश्न पूछकर जानकारी प्राप्त करता है।

प्रारम्भ में बालक अपने शरीर के बाह्य अंगों के सम्बन्ध में रुचि रखता है, परन्तु बाद में उसमें आन्तरिक अंगों के बारे में रुचि विकसित होने लग जाती है। बालक में शरीर के प्रति रुचि जितनी ही अधिक होती है, वह शरीर के बारे में उतनी ही जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करता है। वह किन स्रोतों और किन माध्यमों से अपने शरीर के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करेगा, यह बहुधा इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी आयु क्या है। अध्ययनों में यह देखा गया है कि जिन बच्चों का समायोजन उपयुक्त प्रकार से होता है, उनमें अपने शरीर और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में रुचि अपेक्षाकृत देर से विकसित होती है। इन अध्ययनों में यह भी देखा गया है कि बालक अपनी शैक्षिक और सामाजिक असफलताओं का कारण कई बार अपने स्वास्थ्य और शरीर को भी बताता है।

(2) वस्त्र सम्बन्धी रुचि (Interest in Clothes)

वस्त्रों में बालक की रुचि उतनी ही अधिक होती है, जितनी अधिक वस्त्रों से बालकों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। वस्त्रों से बालकों की जिन प्रमुख आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है, वे निम्न प्रकार से हैं—(1) स्वतन्त्रता (Autonomy) की आवश्यकता की पूर्ति होती है। (2) वह दूसरे लोगों के ध्यान (Attention) को वस्त्रों की सहायता से शीघ्र आकर्षित कर लेता है। नए, चमकीले-भड़कीले और कढ़े हुए कपड़े दूसरों का ध्यान शीघ्र आकर्षित करते हैं। (3) वह अपनी वैयक्तिकता (Individuality) को वस्त्रों की सहायता से सरलता से बनाए रखता है। (4) वस्त्रों की सहायता से वह अपने साथी, समूह के साथ तादात्मीकरण (Identification) सरलता से स्थापित कर लेता है। (5) लगभग दस वर्ष की अवस्था से अपनी यौन-उपयुक्तता (Sex Appropriateness) को बनाए रखने में वस्त्रों की आवश्यकता अनुभव करने लग जाता है।

बालकों की वस्त्रों में रुचि उनकी आयु बढ़ने के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती है। बालकों की वस्त्रों में रुचि उतनी ही अधिक होती है, जितना अधिक वस्त्र उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं। बहुधा देखा गया है कि दुबले-पतले बच्चे स्वस्थ दिखाई देने के लिए मोटे और कलफदार कपड़ों को पहिनने में अधिक रुचि प्रदर्शित करते हैं। बच्चे नए-नए कपड़े पहिनने में अधिक रुचि लेते हैं। चूँकि नई वस्तुओं और कपड़ों में आकर्षण मूल्य (Attention Value) अधिक होता है, अतः बच्चे नए कपड़े पहिनने को अधिक जिज्ञासु होते हैं। अध्ययनों में देखा गया है कि बच्चे हल्के और चमकीले रंगों वाले वस्त्र पहिनना अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि इस प्रकार के कपड़ों का आकर्षण मूल्य अधिक होता है। अधिकांश छोटे बच्चे कढ़े हुए वस्त्रों के प्रति अधिक रुचि प्रदर्शित करते हैं, परन्तु आयु बढ़ने के साथ-साथ उनकी इस प्रकार की रुचि कम होती जाती है। आयु बढ़ने के साथ-साथ बच्चा यह समझने लग जाता है कि किस अवसर पर किस प्रकार के वस्त्र पहिनने चाहिए।

(3) नामों में रुचि (Interest in Names)

बालक अपने नाम में तब तक रुचि नहीं लेता है, जब तक कि दूसरे व्यक्ति उसके नाम की प्रशंसा करते हैं अथवा आलोचना नहीं करते हैं। एक अध्ययन (J. W. McDavid & H. Harari, 1966) के अनुसार, बच्चे को जब इस बात का ज्ञान हो जाता है कि जैसे वस्तुओं को उनके नामों से पहिचाना जाता है, ठीक उसी प्रकार से व्यक्तियों को भी उनके नामों से पहिचाना जाता है, तब वह अपने नाम में रुचि लेने लग जाते हैं। कई बार बच्चे अपने नाम में रुचि उस समय लेना प्रारम्भ करते हैं, जब उनके नाम का उच्चारण करने में अन्य लोगों को कठिनाई होती है। अपनी संस्कृति के बच्चों के दो या अधिक नाम हुआ करते हैं। इन दो नामों में एक उसके घर का नाम होता है और दूसरे उसके स्कूल का नाम होता है अथवा एक उसका प्यार का नाम होता है जो अस्थायी होता है तथा दूसरा वास्तविक नाम होता है जो स्थायी होता है। अधिकांश बच्चों के नाम एक, दो या तीन शब्दों के होते हैं।

Scanned with OKEN Scanner

अधिकांश बच्चे अपने पहले नाम में या नाम के पहले शब्द में अधिक रुचि रखते हैं। बच्चे अपने वास्तविक नाम की अपेक्षा घरेलू नाम में अधिक रुचि रखते हैं। एक बालक की उसकी नाम में रुचि उसके व्यवहार और व्यक्तित्व को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए, यह देखा गया है कि जो बालक अपने नाम को पसन्द नहीं करते हैं, वे स्वभाव से अधिक शर्मीले और संवेदनशील होते हैं। इस प्रकार के बच्चे सामाजिक उत्सवों में भाग लेना पसन्द नहीं करते हैं। बच्चों के अपने नाम न पसन्द करने के अनेक कारण हो सकते हैं—(1) पुराने टाइप का नाम हो, (2) उच्चारण में कठिनाई हो, (3) बहुत नया या अनोखा नाम हो, (4) बहुत लम्बा नाम हो, (5) लिंग के अनुसार न हो, (6) बहुत छोटा नाम हो, (7) ऐसा नाम हो, जो लड़के और लड़कियों में कॉमन हो, आदि।

(4) धर्म में रुचि (Interest in Religion)

बाल्यावस्था में ही बालकों में धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती है। धर्म में बालकों की जिज्ञासा उस समय बढ़ती वह अपने से बड़ों को पूजा-पाठ करते देखते हैं। धार्मिक रुचि में दो तत्व हैं—**प्रथम**, धर्म के प्रति विश्वास तथा **द्वितीय**, धर्म के नि सिद्धान्तों और आदर्शों का पालन करना। बालकों की धार्मिक रुचि को यदि देखा जाय तो बालकों में धार्मिक रुचि का द्वितीय प पहले विकसित होता है। बालकों में धार्मिक रुचि का विकास बहुत कुछ उनकी बौद्धिक योग्यताओं, प्रशिक्षण और परिवार के धार्मिक वातावरण पर निर्भर करता है। अधिकांश प्राथमिक पाठशालाओं में कक्षा में जाने और पढ़ाई से पूर्व प्रार्थना होती है। इस प्रकार का प्रशिक्षण बालक में धर्म के प्रति रुचि के विकसित होने में सहायक है। चार-पाँच वर्ष का बालक जन्म-मृत्यु, स्वर्ग-नर्क और ईश्वर आदि के सम्बन्ध में रुचि प्रदर्शित करने लगता है। लगभग पाँच-छः वर्ष का बालक धार्मिक कहानियों में रुचि प्रदर्शित करने लग जाता है। लगभग दस-बारह वर्ष के बालकों में धर्म के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न होने लग सकते हैं।

(5) सेक्स में रुचि (Interest in Sex)

छोटे बच्चे जब अपने खेल के साथियों के सम्पर्क में आते हैं, तब उनमें सेक्स के सम्बन्ध में रुचि का विकास प्रारम्भ हो जाता है। वयःसन्धि अवस्था (Puberty Stage) में विपरीत लिंग के लोगों के प्रति आकर्षण और रुचि बढ़ जाती है। **हरलॉक** (1974) का विचार है कि लगभग छः वर्ष के बालक में सेक्स के मामलों में क्रियात्मक रुचि पाई जाती है। इस अवस्था के बालक लड़के और लड़कियों के यौन-सम्बन्धी अन्तरों को पहिचानने लग जाते हैं। सेक्स के प्रति जिज्ञासा को शान्त करने के लिए बालक कई विधियाँ अपनाते हैं—

(1) प्रथम यह कि बालक अपनी इस जिज्ञासा को प्रश्न पूछ कर शान्त करते हैं, लगभग पाँच-छः वर्ष तक के बालक अक्सर शारीरिक सेक्स सम्बन्धी अन्तरों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछते हैं। कुछ अधिक बड़े बच्चे बालक के उत्पन्न होने में माता-पिता का क्या कार्य है; यह सीख जाते हैं।

(2) बालक अपनी सेक्स के प्रति रुचि को अपने गुप्तांगों को प्रदर्शित करके भी व्यक्त करता है। लगभग छः वर्ष का बालक इस प्रकार की अभिव्यक्ति करने लग जाता है।

(3) समलैंगिक खेल (Homosexual Play) और हस्तमैथुन (Masturbation) के द्वारा भी अपनी सेक्स के प्रति रुचि को व्यक्त करता है। छः-सात साल के बच्चों में इस प्रकार की अभिव्यक्ति अक्सर देखी जाती है।

(6) स्कूल में रुचि (Interest in School)

बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, स्कूल में उसकी रुचि में परिवर्तन होता जाता है। आयु बढ़ने के साथ-साथ विद्यालय में उसकी रुचि चयनात्मक (Selective) होती जाती है। विद्यालय में कुछ बच्चे तो पढ़ने-लिखने में अधिक रुचि रखते हैं तो कुछ खेलकूद में अधिक रुचि रखते हैं। एक अध्ययन (M. D. Simon, 1969) में यह देखा गया है कि यदि प्रारम्भ में बालक विद्यालय में अपने आपको भली-भाँति समायोजित कर लेता है तो विद्यालय में उसकी रुचि बढ़ती जाती है। माता-पिता की अध्यापकों और स्कूल आदि के प्रति अभिवृत्तियाँ भी बालक की इस प्रकार की रुचियों के विकास को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती हैं (L. J. Stone & J. Church, 1968)।

स्कूल के प्रति रुचि के विकास को अनेक कारक प्रभावित करते हैं; जैसे—साथ के भाई-बहिनों का प्रभाव, साथी समूह का प्रभाव, विद्यालय के वातावरण का प्रभाव, विद्यार्थी-शिक्षक सम्बन्धों का प्रभाव, कार्य के प्रति अभिवृत्ति (Attitude towards Work) का प्रभाव आदि। इसके अतिरिक्त विद्यालय में बालक की सफलता और असफलता का प्रभाव भी बालक की इस प्रकार की रुचि के विकास पर पड़ता है। उदाहरण के लिए, कुछ अध्ययनों (N. A. Flanders, et. al., 1968; T. Poffenberger & D. Norton, 1963) में यह देखा गया है कि जिन बालकों के विद्यालय परीक्षाओं में प्राप्तांक अच्छे नहीं होते हैं, उनमें विद्यालय के प्रति रुचि विपरीत प्रकार की होती है, इसी प्रकार से जो विद्यार्थी पढ़ने में तेज होते हैं, उनका समायोजन अच्छा होता है और उनमें विद्यालय के प्रति धनात्मक रुचि का विकास होता है (D. B. Waters, 1968)।

Scanned with OKEN Scanner

प्रश्न 19. विद्यालय का बालक के व्यक्तित्व विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है?
What impact does the School on the Personality Development of the Child?

उत्तर— जब पहली कक्षा या नर्सरी में बालक प्रथम बार प्रवेश लेता है तो उसमें स्कूल से पूर्व की अभिवृत्तियाँ और व्यवहार प्रतिमान होते हैं। स्कूल से पूर्व की अभिवृत्तियाँ और व्यवहार प्रतिमान पारिवारिक वातावरण में विकसित हुए होते हैं। परिवार में बालक को जितनी सुरक्षा मिलती है, उतनी सुरक्षा उसे विद्यालय में प्राप्त नहीं होती है। स्कूल बालक के लिए बिल्कुल एक नयी परिस्थिति होती है, जिसमें धीरे-धीरे वह अधिगम और उपलब्धियों को प्राप्त करना सीखता है। स्कूल के क्रियाकलाप घर की अपेक्षा पूर्णतः भिन्न होते हैं। स्कूल में बालक को न केवल स्कूल के वातावरण के साथ समायोजन करना सीखना पड़ता है, बल्कि उसे अपने सहपाठियों और गुरुजनों के साथ भी समायोजन करना सीखना पड़ता है। बालक के लिए स्कूल का पहला दिन सुखद घटना भी हो सकती है और गम्भीर संवेगात्मक संकट (Serious Emotional Crisis) भी हो सकता है।

स्कूल शिक्षा का महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठ और सक्रिय साधन है। बालक के व्यक्तित्व विकास में स्कूल की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। एल० ई० लौंगस्ट्रे (L. E. Longstreth, 1974) ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह स्थिर किया है कि पाँच वर्ष की आयु तक बालक की समस्त सामाजिक अन्तःक्रियाएँ माता-पिता तथा अन्य पारिवारिकजनों के साथ सम्बन्धित होती हैं। पाँच-छः वर्ष की अवस्था में जब बालक विद्यालय में प्रवेश लेता है तो उसकी अन्तःक्रियाओं का दायरा बढ़ जाता है। विद्यालय के मित्रों और अध्यापकों के साथ उसकी अन्तःक्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। लगभग सात वर्ष की अवस्था में बालक की यह अन्तःक्रियाएँ अधिक बढ़ने लग जाती हैं। ग्यारह-बारह वर्ष की अवस्था तक उसकी विद्यालय से सम्बन्धित अन्तःक्रियाएँ परिवार की अपेक्षा अधिक हो जाती हैं। जब तक बालक विद्यालय से सम्बन्धित रहता है, तब तक उसमें यह अन्तःक्रियाएँ बनी रहती हैं।

(1) नर्सरी स्कूल और बाल विकास (Nursery School & Child Development)

नर्सरी स्कूल में जाने वाले बालकों की आयु में थोड़ा-बहुत अन्तर होता है। बहुधा आयु का यह अन्तर माता-पिता की अभिवृत्तियों के कारण होता है। कुछ माता-पिता यह सोचते हैं कि उनका बच्चा अभी बहुत छोटा है और स्कूल जाने लायक नहीं है, कुछ लोग यह सोचते हैं कि उनका बच्चा अपरिपक्व है और उसे अभी घर में ही रहना चाहिए।

नर्सरी स्कूल के बच्चों पर किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि नर्सरी स्कूल के वह बच्चे जिनके माता-पिता का समायोजन अच्छा होता है, स्कूल में ऐसे बच्चों का समायोजन भी अच्छा होता है। इन बच्चों के दोस्त जल्दी बन जाते हैं। यह बच्चे स्कूल के कार्यों में भी अन्य असमायोजित बच्चों की अपेक्षा अधिक अच्छे होते हैं। एक अध्ययन (Baldwin, A. L., 1949) में यह देखा गया कि नर्सरी स्कूल के वह बच्चे, जिनके परिवार का वातावरण प्रजातान्त्रिक प्रकार का होता है, अन्य बच्चों की अपेक्षा अधिक क्रियाशील और बहिर्मुखी व्यक्तित्व वाले होते हैं। इन बच्चों में कुछ और विशेषताएँ भी देखी गयी हैं; जैसे—यह मित्रवत् होते हैं, अन्य साथी बच्चों में लोकप्रिय होते हैं, मौलिकता और निर्माणशीलता के गुण अधिक मात्रा में होते हैं, इनमें बौद्धिक जिज्ञासा भी अन्य बच्चों की अपेक्षा कम मात्रा में होती है। इस अध्ययन में यह भी देखा गया कि जिन बच्चों में आश्रितता अधिक होती है तथा अपने माता-पिता के साथ स्नेहपूर्ण सम्बन्धों में अधिक बँधे होते हैं, उन बच्चों में उपर्युक्त बच्चों की अपेक्षा विपरीत विशेषताएँ पायी जाती हैं।

नर्सरी स्कूल के अनेक बच्चों में रोने-चिल्लाने सम्बन्धी व्यवहार भी देखे जाते हैं। इस प्रकार के व्यवहार बहुधा उन बच्चों में पाये जाते हैं, जिनकी पारिवारिक ट्रेनिंग सही ढंग से नहीं होती है। कई बार बच्चे दूसरे बच्चों को रोता देखकर सहानुभूति के कारण रोने लगते हैं। नर्सरी स्कूल के बच्चों के सेने के कारणों को स्पष्ट करते हुए **एल० डी० क्रो** और **ए० क्रो** (L. D. Crow & A. Crow, 1962) ने लिखा है कि, *"Boys seem to cry because of conflicts with adults and frustrations by objects in the environment, girls tend to cry because of a real or imagined injury to their person."*

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि नर्सरी स्कूल के अध्यापक बालक के साथ-साथ उनके परिवारों के सम्बन्ध में यदि जानकारी रखते हैं तो उन्हें बालकों को समझने व उन्हें शिक्षा देने में अधिक सुविधा रहती है। अच्छे नर्सरी स्कूलों में अध्यापक बालकों की क्रियाओं को सुझावों के द्वारा नियन्त्रित और निर्देशित करते हैं।

(2) प्राइमरी विद्यालय के अनुभव और बाल विकास (Primary School Experience and Child Development)

जब बालक को प्राथमिक विद्यालय में प्रवेश दिलाया जाता है तो उसे विद्यालय के वातावरण, अध्यापकों और सहपाठियों के साथ समायोजन करना सीखना पड़ता है। जो बच्चे प्राथमिक विद्यालयों में प्रवेश से पूर्व नर्सरी स्कूल में शिक्षा ग्रहण कर चुके होते हैं, उन्हें नये वातावरण में समायोजन करने में उतनी कठिनाई नहीं होती, जितनी कि उन बालकों को जिनका विद्यालय में पहली बार प्रवेश

Scanned with OKEN Scanner

हुआ है। इसी प्रकार से यह भी देखा गया है कि जिन बच्चों को अच्छा पारिवारिक वातावरण और प्रशिक्षण मिला है, उनका विद्यालय में समायोजन अन्य बच्चों की अपेक्षा जल्दी और अच्छा हो जाता है।

प्राथमिक विद्यालय के बालकों की सर्वांगीण शिक्षा के लिए आवश्यक है कि विद्यालय के अध्यापक बालक के अभिभावक से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखें।

विद्यालय में कक्षा का वातावरण मुख्यतः तीन प्रकार का हो सकता है—

(1) प्रजातन्त्रात्मक वातावरण (Democratic Environment)—इस प्रकार की कक्षाओं में अध्यापक और विद्यार्थी मिल यह निश्चय करते हैं कि उन्हें कक्षा में क्या कार्य करना है। इस प्रकार की कक्षाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों में अनेक विशेषताएँ जाती हैं; जैसे—यह विद्यार्थी कक्षा के अन्य विद्यार्थियों के साथ मित्रवत् व्यवहार करते हैं, अध्यापक की अनुपस्थिति में भी एक के साथ मिलकर कार्य करते हैं, विद्यार्थियों में सहयोग की भावना अधिक होती है।

(2) निरंकुशवादी वातावरण (Authoritarian Environment)—इस प्रकार का वातावरण उन कक्षाओं में देखने को मि है, जिनमें कक्षा-अध्यापक ही सर्वेसर्वा होता है। कक्षा-अध्यापक ही कक्षा के क्रिया-कलापों का निर्णय लेता है। इस प्रकार के वातावर में पढ़ने वाले विद्यार्थियों में विद्रोह की प्रवृत्ति, निष्क्रियता की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में पायी जाती है। ऐसी कक्षाओं में पढ़ने वाले विद्या अध्यापक की अनुपस्थिति में कोई रचनात्मक कार्य नहीं कर पाते हैं। ऐसे वातावरण में पढ़ने वाले विद्यार्थियों में साथ ही सहपाठियों प्रति सहयोग के स्थान पर विरोध का भाव पाया जाता है।

(3) स्वतन्त्रता का वातावरण (Independent Environment)—इस प्रकार का वातावरण उन कक्षाओं में होता है, जह अध्यापक विद्यार्थियों को पूरी छूट देता है और कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के सुझावों को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है। ऐस वातावरण वाली कक्षाएँ बहुत कम मात्रा में देखी जाती हैं। इस प्रकार की कक्षाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों में परस्पर द्वेष का भाव पाय जाता है। इन विद्यार्थियों में रचनात्मकता का अभाव और इनमें कोई व्यवस्था भी नहीं पायी जाती है।

(3) अध्यापक-विद्यार्थी सम्बन्ध (Teacher-Student Relationship)

विद्यालय में एक छात्र का अधिगम और उपलब्धि किस प्रकार की होगी, यह बहुत कुछ इस बात पर भी निर्भर करता है कि अध्यापक और विद्यार्थियों में सम्बन्ध किस प्रकार के हैं। एक छोटे बच्चे के लिए अध्यापक माँ का प्रतिस्थापित (Mother Substitute) रूप है। दूसरी ओर कुछ बड़े बालकों के लिए शिक्षक वह वयस्क व्यक्ति है, जो आदरणीय और प्रशंसा पाने वाला है, जिसके व्यवहार का अनुकरण करना चाहिए। अतः आवश्यक है कि अध्यापकों में प्रभावशाली आदर्श और अनुकरणीय गुण और विशेषताएँ होनी चाहिए। इस दिशा में अध्ययनों में देखा गया कि अध्यापक की अभिवृत्तियों के प्रति विद्यार्थी अत्यधिक संवेदनशील होते हैं।

बहुधा यह देखा गया है कि अधिकांश अध्यापक मध्यम सामाजिक-आर्थिक स्तर के होते हैं। विद्यालयों में पढ़ने वाले अधिकांश छात्र भी मध्यम सामाजिक-आर्थिक वर्ग के होते हैं, क्योंकि ऐसे अध्यापकों को अपने विद्यार्थियों को समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती है।

बहुधा कक्षा का वातावरण अध्यापक की अभिवृत्तियों को अभिव्यक्त करता है। एक अध्यापक यदि कक्षा में डरा-धमका कर या मार-पीटकर शिक्षा देता है तो कक्षा के विद्यार्थी भी कठोर स्वभाव वाले हो जाते हैं। उनके व्यवहार में लचीलापन समाप्त हो जाता है (H. H. Anderson & G. L. Anderson, 1946)।

बी० कुप्पूस्वामी (B. Kuppuswamy, 1976) का विचार है कि, *"जब बालक निम्न वर्ग से सम्बन्धित होते हैं तो बालकों और अध्यापकों के मूल्य में खाई होती है। ऐसा बालक या तो शिक्षकों की आज्ञा का पालन नहीं करता, या आक्रामक रवैया अपनाता है या उदासीन हो जाता है, अथवा कक्षा में अनुपस्थित रहता है। ऐसे विद्यार्थी धीमी गति से सीखते हैं, इससे अध्यापक उनसे ऊब जाते हैं या उनसे निराश हो जाते हैं। इस प्रकार अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही एक-दूसरे को स्वीकार नहीं करते।"*

अनुशासन बालक मुख्यतः अपने संरक्षकों व अध्यापकों से सीखता है। अनुशासन के द्वारा समाज द्वारा मान्य नैतिक व्यवहार को सिखाया भी जाता है। विद्यालय का अनुशासन बालक के व्यवहार और अभिवृत्तियों को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करता है। जब विद्यालय में अनुशासन निरंकुशवादी होता है तो ऐसे वातावरण के कारण विद्यार्थी में अनेक प्रकार की व्यक्तित्व सम्बन्धी विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं; जैसे—अधिक संवेदनशीलता, अन्तर्मुखी व्यक्तित्व, सन्देह करना, शर्मीलापन, अलग-अलग और अकेला रहने की प्रवृत्ति आदि। जब विद्यालय में अनुशासन प्रजातान्त्रिक प्रकार का होता है तो बालकों में अनेक व्यक्तित्व विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं; जैसे—प्रसन्नता, सहयोग, आत्म-महत्त्व और विश्वास की योग्यता आदि।

Scanned with OKEN Scanner

जब कक्षा का वातावरण संवेगात्मक होता है तो बालक में प्रसन्नता, सहयोग की भावना ही उत्पन्न नहीं होती है, बल्कि वह कक्षा के नियमों को मानने वाला होता है और पढ़ने के लिए अधिक प्रेरित होता है। दूसरी ओर अस्वस्थ संवेगात्मक वातावरण विद्यार्थियों को तनावपूर्ण, चिड़चिड़ा, झगड़ालू बनाता है। ऐसे बच्चे पढ़ने के प्रति प्रेरित नहीं होते हैं। इस दिशा में हुए अध्ययनों में यह देखा गया है कि कक्षा का संवेगात्मक वातावरण बहुत कुछ कक्षा-अध्यापक की अभिवृत्तियों से प्रभावित होता है तथा इस बात से भी प्रभावित होता है कि कक्षा-अध्यापक कक्षा में अनुशासन की कौन-सी विधि अपनाता है।

(4) विद्यालय और शैक्षिक उपलब्धि (School and Educational Achievement)

इस दिशा में हुए अध्ययनों में देखा गया है कि कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं, जिनकी कक्षा में उपलब्धि उनकी योग्यताओं को देखते हुए अपेक्षाकृत कुछ कम होती है। कई बार विद्यार्थियों की यह शैक्षिक उपलब्धि परिस्थितिजन्य (Situational) होती है। बहुधा यह देखा गया है कि जब किसी विद्यार्थी के परिवारीजन की मृत्यु हो जाती है, विद्यार्थी को एक स्कूल से दूसरे में प्रवेश कराया जाता है या विद्यार्थी को कोई तीव्र संवेग उत्पन्न करने वाला अनुभव होता है तो विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि सामान्य की अपेक्षा कम रह जाती है। विद्यार्थी की कम शैक्षिक उपलब्धि का कारण परिवार, स्कूल और विद्यार्थी स्वयं से सम्बन्धित हो सकता है। जब विद्यार्थियों की पढ़ने में रुचि नहीं होती है और पढ़ने के प्रति उनमें विद्रोही भावना पायी जाती है तो उनकी शैक्षिक उपलब्धि कम रह जाती है।

कुछ विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि उनकी योग्यताओं की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है। बहुधा ऐसे विद्यार्थियों को पढ़ने की अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं तथा अच्छे शिक्षकों से सीखने की सुविधा प्राप्त होती है।

(5) स्कूल तथा व्यक्तित्व (School and Personality)

परिवार के बाद बालक के व्यक्तित्व पर पड़ौस का प्रभाव पड़ता है। पड़ौस के जिन बच्चों के साथ बच्चा खेलता है अथवा जो बच्चे बालक के साथ उससे खेलने उसके घर आते हैं, बच्चा इन बच्चों से अनेक आदतें और तरह-तरह के कौशल ही नहीं सीखता है, बल्कि बच्चे का बौद्धिक और संवेगात्मक विकास भी इन बच्चों के व्यवहार से प्रभावित होता है। जब बच्चा कुछ और बड़ा हो जाता है, तब वह विद्यालय जाता है। विद्यालय में वह शैक्षिक सफलता और असफलता के अनुभव प्राप्त करता है। विद्यालय में बच्चे के समायोजन सम्बन्धी अनुभव उसके विकसित होते व्यक्तित्व के लिए लाभदायक भी हो सकते हैं और हानिकारक भी हो सकते हैं।

ग्लासर (Glasser, 1969) ने विद्यार्थियों के प्रति प्रकार्य की आलोचना करते हुए कहा है कि विद्यालय उन विद्यार्थियों की उपलब्धि को अवरुद्ध कर देते हैं, जो विद्यार्थी विद्यालय में असफल हो जाते हैं अथवा शैक्षिक उपलब्धि में अन्य विद्यार्थियों के साथ प्रतिस्पर्धा करने में पीछे रह जाते हैं। विद्यालय से केवल उन्हीं विद्यार्थियों को लाभ होता है, जिनका विद्यालय में कार्य निष्पादन अच्छा होता है। **ग्लासर** ने आगे कहा है कि विद्यालय में शैक्षिक उपलब्धि के ही आधार पर विद्यार्थी की सफलता को आँका जाता है। उसकी सफलता आँकते समय उसके सीखने के अन्य प्रकार के अनुभवों पर ध्यान नहीं दिया जाता है। विद्यालय में बच्चा अपने सहपाठियों तथा विद्यालय के शिक्षकों आदि के व्यवहार से ही प्रभावित नहीं होता है, बल्कि विद्यालय का सामान्य वातावरण भी बालक के व्यवहार को प्रभावित करता है। उसे विभिन्न सामाजिक-आर्थिक स्तर के बच्चों के साथ मिलने का अवसर मिलता है। वह इन सभी प्रकार के बच्चों की आदतों, विचारों और चरित्र आदि से प्रभाावित होता है।

एक अध्ययन (E. F. Hellersberg, 1957) में यह सिद्ध किया गया है कि संरक्षकों के बाद बालक के व्यक्तित्व विकास पर स्कूल का प्रभाव उसी प्रकार पड़ता है, जिस प्रकार से जैसे पहला प्रभाव घर या परिवार का पड़ता है और दूसरा प्रभाव उस कक्षा का पड़ता है, जहाँ बालक पढ़ता है।

एक अन्य अध्ययन (Davidson Larg, 1960) में यह देखा गया कि प्राथमिक स्कूल के अनुभवों और बच्चों के स्वयं के प्रति प्रत्यक्षीकरण में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस अध्ययन में यह देखा गया कि जो बच्चे यह समझते हैं कि शिक्षक की दृष्टि में वह अच्छे बच्चे हैं, ऐसे बच्चों का व्यवहार अधिक उपयुक्त होता है तथा ऐसे बच्चों की शैक्षिक उपलब्धि भी अपेक्षाकृत अधिक अच्छी होती है। बच्चों के सामाजिक तथा संवेगात्मक विकास में स्कूल के साथी समूह का प्रभाव सर्वाधिक पड़ता है।

हरलॉक (1974) का विचार है कि स्कूल से सम्बन्धित अनेक कारकों का प्रभाव बालकों के व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। उदाहरण के लिए, कक्षा के वातावरण का प्रभाव, अध्यापक, अनुशासन, विद्यालय में पक्षपात, शैक्षिक उपलब्धि, सामाजिक उपलब्धि आदि कारक बालक के व्यक्तित्व-विकास को प्रभावित करते हैं।

(6) स्कूल और चरित्र (School and Character)

परिवार के बाद विद्यालय का भी बालक के नैतिक और चारित्रिक विकास पर महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभाव पड़ता है। विद्यालय के शिक्षक, सहपाठी और वातावरण आदि सभी कुछ बालक के नैतिक विकास में कुछ योगदान अवश्य देते हैं। विद्यालय में बालक का

Scanned with OKEN Scanner

पाठ्यक्रम और अनुशासन का भी उसके नैतिक मूल्यों के विकास पर महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभाव पड़ता है। एक विद्यालय का सामान्य अनुशासन और व्यवस्था जहाँ ठीक होती है, वहाँ पढ़ने वाले बालकों को चारित्रिक विकास के लिए सुन्दर वातावरण मिलता है। विद्यालयों में बालकों के नैतिक विकास पर उसके साथी-समूह का भी महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, बालक के साथी यदि दुराचारी हैं तो निश्चय ही बालक में भी इसी प्रकार के व्यवहार प्रतिमान विकसित होंगे।

(7) स्कूल और आत्म-प्रत्यय (School and Self-Concept)

लगभग तीन-चार वर्ष की अवस्था तक बालक सेक्स सम्बन्धी अन्तर समझने ही नहीं लगता है, बल्कि वह बालों और कपड़ों के रख-रखाव के आधार पर लड़के-लड़कियों और स्त्री-पुरुषों को अलग-अलग पहचानने भी लग जाता है। जब वह स्कूल जाना प्रारम्भ करता है, तो उसके यह अन्तर अधिक और अधिक स्पष्ट हो जाते हैं, परन्तु वयःसन्धि अवस्था में वह दो सेक्स के अन्तर को पूर्ण पहचान जाता है। जब बालक स्कूल जाना प्रारम्भ करता है, उस समय तक मेल और फीमेल कार्यों को भी जानने लग जाता है। लगभग चार साल का बालक अपने जातीय और प्रजातीय अन्तरों को भी इसलिए पहचानने लग जाता है कि खेल के साथी और दूसरे लोग उससे उसकी जाति और प्रजाति के अनुसार व्यवहार करने लग जाते हैं। जब वह स्कूल जाने लग जाता है, तब वह अपने परिवार की प्रतिष्ठा और अपने परिवार के सामाजिक और आर्थिक स्तर का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। स्कूल जाने तक वह यह समझने लगता है कि परिवार की और उसकी प्रतिष्ठा तथा सामाजिक-आर्थिक स्तर माता-पिता के व्यवसाय से निर्धारित होता है। वह इन अर्थों को अपने आत्म-प्रत्यय से जोड़ लेता है।

(8) स्कूल और सामाजिक विकास (School and Social Development)

बालक का सामाजिक विकास किस प्रकार का होगा, यह उसके पड़ौस और स्कूल से भी निर्धारित होता है। बालक के पड़ौस में रहने वाले बच्चों और वयस्कों के सामाजिक व्यवहार का भी प्रभाव बालक पर पड़ता है। पड़ौस में किस प्रकार के सामाजिक कार्यक्रम होते हैं, कैसा सामाजिक वातावरण है, आदि कारक भी बालक के सामाजिक विकास को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। विद्यालय में शिक्षकों और बालक के मित्र भी बालक के सामाजिक विकास में योगदान देते हैं। विद्यालय में बालक को अपनी आयु के अनेक बालकों के साथ बैठने और सीखने का अवसर ही नहीं मिलता है, बल्कि उसे बड़े बच्चों के सामाजिक अनुभव सुनने और सामाजिक व्यवहार को देखने का अवसर मिलता है। इन अवसरों से उसकी सामाजिक सूझ तथा उसका सामाजिक प्रत्यक्षीकरण बढ़ता है। फलस्वरूप वह समाज के विभिन्न मूल्यों से सम्बन्धित व्यवहार का अधिगम करता है। विद्यालय के अनेक कार्यक्रमों में भाग लेकर भी वह अनेक सामाजिक व्यवहार प्रतिमानों को सीखता है। विद्यालय से वह सहयोग, मित्रता, उत्तरदायित्व और आत्मनिर्भरता आदि सीखता है।

प्रश्न 20. चरित्र-निर्माण में शिक्षा का क्या योगदान है?
What is the Contribution of Education in Character Creation?

उत्तर— कहा जा सकता है कि चरित्र का निर्माण शिक्षा का आवश्यक अंग है। चरित्र-निर्माण से व्यक्तित्व का विकास होता है। बालक के चरित्र का निर्माण उसके जन्म से ही आरम्भ हो जाता है। पहले उसके मूल-प्रवृत्यात्मक व्यवहार की भूमिका चरित्र-निर्माण में होती है। कालान्तर में अर्जित की गई अच्छी तथा बुरी आदतों के द्वारा चरित्र एक निश्चित रूप लेने लगता है। *"चरित्र की शिक्षा, ईमानदारी, निरन्तरता, सत्य, सहयोग आदि गुणों के विकास के लिए जोकि व्यवहार की पूर्णता को व्यक्त करते हैं तथा जोकि उन मूल्यों को ग्रहण करने के लिए उसी प्रकार ली जाती है, जैसे हम भोजन या ऑक्सीजन लेते हैं।"*

बाल्यकाल में बच्चों पर माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों के व्यक्तित्व तथा चरित्र का प्रभाव पड़ता है। माता-पिता को चाहिए कि वे बच्चों के सम्मुख आदर्श व्यवहार प्रस्तुत करें, जिससे वह उनके व्यवहार का अनुकरण कर सकें। घर पर बालकों को नैतिक कहानियाँ सुनानी चाहिए। बच्चों के संवेगों को ठीक प्रकार से प्रशिक्षण देना चाहिए। स्वस्थ स्थायीभावों का निर्माण करना चाहिए।

विद्यालय में चरित्र विकास के लिए निम्न प्रयत्न किये जा सकते हैं—

(1) उच्च आदर्श (High Standard)—बालकों में अनुकरण करने की प्रवृत्ति मुख्य होती है। अनुकरण की प्रवृत्ति से ही बालकों में आदतों का विकास होता है और ये आदतें धीरे-धीरे बालकों में उच्च आदर्श एवं मान्यताएँ स्थापित करती हैं। विद्यालय में अध्यापकों एवं घर में माता-पिता को सदैव यह प्रयत्न करना चाहिए।

(2) आदर्श प्रस्तुतीकरण (Ideal Presentation)—अध्यापक को बच्चों के समक्ष आदर्श का प्रस्तुतीकरण सहज रूप से करना चाहिए। ये आदर्श, महान् व्यक्तियों के कार्यों, नैतिकता से ओत-प्रोत कहानियाँ एवं अच्छे वातावरण द्वारा प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अध्यापक को छात्रों को निर्देश (Suggestions) देते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उसके द्वारा दिये गये निर्देश चरित्र विकास में सहायक हों, बाधक नहीं।

Scanned with OKEN Scanner

(3) वातावरण का निर्माण (Build the Environment)—**चरित्र की शिक्षा विद्यालयों में तभी सम्भव है, जबकि विद्यालय का** वातावरण स्वयं ही चरित्रयुक्त हो। प्रधानाध्यापक, अध्यापक तथा अन्य कर्मचारी चरित्रवान हों। इसके लिए प्रार्थना सभाएँ, नैतिक तथा चारित्रिक महत्त्व के व्याख्यान, धार्मिक-सांस्कृतिक उत्सवों आदि का आयोजन करना चाहिए। **हैविंगहर्स्ट एवं टाबा** ने इस सन्दर्भ में कहा है— (i) बालकों को विश्व के कार्यों तथा उसके कार्यों के सन्दर्भ में शिक्षा दो, (ii) बालक को सामाजिकता के विकास की शिक्षा दो, (iii) बालक में आत्म-नियन्त्रण तथा आत्मानुशासन विकसित करो।

(4) अच्छी आदतों का विकास (Development of Good Habits)—अध्यापकों को चाहिए कि वे छात्रों में अच्छी आदतों के विकास पर बल दें। अच्छी आदतें अच्छे चरित्र के निर्माण का आधार हैं। बच्चों की गन्दी आदतों को दूर करने के प्रयत्नों में कभी ढील नहीं आनी चाहिए।

(5) अहं का निर्माण (Creating the Ego)—बालक का चरित्र अहं (Ego) के अभाव में अविकसित रह जाता है। अध्यापक को चाहिए कि वह उनमें आत्माभिमान के स्थायीभाव को समाज-सम्मत आधारों पर विकसित करने का प्रयत्न करे। बालक अपने आदर्शों का निर्माण स्वयं करते हैं और उसी के अनुसार वे चलने का प्रयत्न भी करते हैं। अध्यापक बालकों को स्वतन्त्रता दे और विद्यालय के दायित्वपूर्ण कार्यों को उनको सौंपे।

(6) पुरस्कार एवं दण्ड (Award and Penalities)—**हैविंगहर्स्ट** एवं **टाबा** ने पुरस्कार, दण्ड, अचेतन, चिन्तन आदि को चरित्र-निर्माण के लिए आवश्यक बताया है। चरित्र-निर्माण में भय, चिन्तन, पुरस्कार, अनुकरण की परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। ये परिस्थितियाँ चरित्र को विकसित करती हैं।

हैविंगहर्स्ट तथा **टाबा** के अनुसार—**"चरित्र-निर्माण तीन प्रकार से अधिगमित होता है—(i) पुरस्कार एवं दण्ड द्वारा, (ii) अचेतन अनुकरण द्वारा, (iii) विमर्शक चिन्तन द्वारा। ये तीनों चरित्र के निर्माण में सहायक होते हैं।"** अध्यापकों को पुरस्कार तथा दण्ड, आदर्श के प्रस्तुतीकरण तथा परामर्श आदि के रूप में चरित्र विकास पर बल देना चाहिए।

(7) स्थायी भावों का विकास (Development of Stagnation)—बालक के चरित्र का निर्माण करने में उसके संवेगों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। **शैड** के अनुसार— *"स्थायीभाव किसी वस्तु पर केन्द्रित संवेगात्मक प्रवृत्तियों की एक सुव्यवस्थित समष्टि है।"* स्थायीभाव का निर्माण करने में संवेगात्मक प्रवृत्तियों के गठन का योग रहता है। संवेगों की भाँति स्थायीभाव अधिक स्थायी होते हैं। अतः अध्यापक को समाज सेवा, राष्ट्र प्रेम, विश्व-बन्धुत्व, दया, सहयोग, निष्ठा आदि स्थायीभावों का विकास करना चाहिए।

●●●

Scanned with OKEN Scanner